वर्ष 45, अंक 5-6 सितम्बर-दिसंबर 2022

गगनांचल

साहित्य, कला एवं संस्कृति का संगम

संयुक्तांक

जयंती स्मरण

भूपेन हजारिका

8 सितंबर 1926

भारत रत्न सुप्रसिद्ध गायक, गीतकार और संगीतकार भूपेन हजारिका का जन्म 8 सितंबर 1926 को हुआ था। हजारिका असम के बहुमुखी प्रतिभा के गीतकार, संगीतकार और गायक थे। इसके अलावा वे असमिया भाषा के कवि, फिल्म निर्माता, लेखक और असम की संस्कृति और संगीत के विद्वान थे। वे भारत के ऐसे विलक्षण कलाकार थे जो अपने गीत स्वयं लिखते थे, संगीतबद्ध करते थे और गाते थे। उन्हें दक्षिण एशिया के श्रेष्ठतम जीवित सांस्कृतिक दूतों में से एक माना जाता था। उन्होंने कविता लेखन, पत्रकारिता, गायन, फिल्म निर्माण आदि अनेक क्षेत्रों में काम किया।

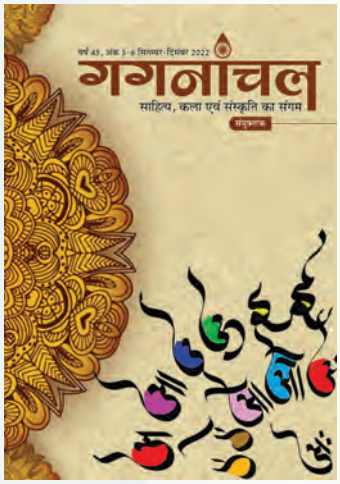

ISSN : 0971-1430

गगनांचल

साहित्य, कला एवं संस्कृति का संगम

वर्ष 45 अंक 5-6 सितंबर-दिसंबर 2022 (संयुक्तांक)

प्रकाशक

कुमार तुहिन

महानिदेशक

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

संपादक

डॉ. आशीष कंधवे

प्रकाशन सामग्री भेजने का पता

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,

नई दिल्ली-110002

ई-मेल : pohindi.iccr@nic.in

गगनांचल अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध
http://www.iccr.gov.in/Publication/Gagananchal
पर क्लिक करें।

सदस्यता शुल्क

वार्षिक	:	₹ 500
		यू.एस $ 100
त्रैवार्षिक	:	₹ 1200
		यू.एस. $ 250

उपर्युक्त सदस्यता शुल्क का अग्रिम भुगतान 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली' को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

मुद्रण : स्पेस 4 बिजनेस सोल्यूशन्स प्रा. लि. दिल्ली

इस अंक के आकर्षण

माधव कौशिक की गजलें

संभव होने की अजस्रधारा

जैन दर्शन में कर्म की अवधारणा

हिंदी का अखाड़ा और ताल ठोकते सूरमा

भाषा क्षेत्र तथा हिंदी भाषा के विविध रूप

खात्म हो रहे नौले-धारे, प्यासा है अल्मोड़ा

विमर्शों के खांचे में बंटता हिंदी साहित्य और राष्ट्रवाद की अवधारणा

लोक जीवन की भावसंगति दुनिया और भिखारी ठाकुर की परंपरा

गगनांचल में प्रकाशित लेखादि पर प्रकाशक का कॉपीराइट है किंतु पुनर्मुद्रण के लिए आग्रह प्राप्त होने पर अनुमति दी जा सकती है। अतः प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना कोई भी लेखादि पुनर्मुद्रित न किया जाए। गगनांचल में व्यक्त विचार संबद्ध लेखकों के होते हैं और आवश्यक रूप से परिषद की नीति को प्रकट नहीं करते। प्रकाशित चित्रों की मौलिकता आदि तथ्यों की जिम्मेदारी संबंधित प्रेषकों की है, परिषद की नहीं।

अनुक्रम

गगनांचल
साहित्य, कला एवं संस्कृति का संगम
वर्ष 45, अंक 5-6, सितम्बर-दिसम्बर 2022 (संयुक्तांक)

प्रकाशकीय
3 कुमार तुहिन

संपादकीय
4 **संस्कृति बौद्धिक उन्नति का पर्यायवाची सभ्यता भौतिक विकास का समानार्थी**
डॉ. आशीष कंधवे

लोक-संस्कृति
6 **आदिम इतिहास के आलोक में लोक प्रतीकों व मिथकों का अध्ययन**
डॉ. विभा ठाकुर

साहित्य-चिंतन
11 **विमर्शों के खांचों में बंटता हिंदी साहित्य और राष्ट्रवाद की अवधारणा**
कोमल

संस्कृति-संवाद
15 **लोकजीवन की भावसंगति दुनिया और भिखारी ठाकुर की परंपरा**
डॉ सुनील कुमार शॉ

अध्यात्म-चिंतन
18 **जैन दर्शन में कर्म की अवधारणा**
डॉ. चन्दन सिंह एवं डॉ. बच्चा बाबू

भाषा-चिंतन
22 **हिंदी फिल्मी गीतों की भाषा**
डॉ. रमेश कुमार वर्णवाल

भाषा-संसार
25 **मातृभाषा में शिक्षा का महत्व**
गरिमा त्रिपाठी

सिनेमा-संसार
28 **हिंदी सिनेमा में परिवार और संवाद की संस्कृति**
डॉ. राकेश कुमार योगी
31 **समानांतर सिनेमा के 50 वर्ष: हिंदी सिनेमा में प्रतिरोध की पृष्ठभूमि**
डॉ महेंद्र प्रजापति

शोध-संसार
35 **हिंदी सिनेमा और किसान**
डॉ. भास्कर लाल कर्ण
38 **जनवादी चेतना और आधुनिक गीति-रचना**
अभीप्सा पटेल

चिंतन-मनन
42 **धूमिल के काव्य में विराम चिह्न**
डॉ. विजय कुमार भारती

तीर्थ-स्थल
46 **अजगैबीनाथ सुल्तानगंज से देवघर वैद्यनाथ धाम की यात्रा**
वीरेन्द्र कुमार यादव

पर्यावरण-पर्यटन
49 **खत्म हो रहे नौले-धारे, प्यासा है अल्मोड़ा**
आशीष कुमार 'अंशु'

कथा-सागर अनुवाद
52 **कहानी एक अद्भुत आदमी की**
अनुवादक: दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात'

कथा-सागर
55 **बड़ा मूड़**
सुषमा मुनीन्द्र

भाषा-चिंतन
61 **भाषा-क्षेत्र तथा हिंदी भाषा के विविध रूप**
प्रोफेसर महावीर सरन जैन
71 **हिंदी का अखाड़ा और ताल ठोकते सूरमा**
सरोजिनी नौटियाल
75 **विगत 75 वर्षों में राजभाषा हिंदी की विकास यात्रा**
रघुवीर शर्मा

समीक्षा-पर्व
77 **शब्द ढले अंगारों में**
ज्ञानप्रकाश विवेक

पुस्तक समीक्षा
79 **संभव होने की अजस्र धारा**
प्रो. मंजु मुकुल

पुस्तक-वार्ता
82 **प्रो. मंगला रानी की अमूल्य कृति: अक्षर मोती का नजराना**
डॉ. अर्चना त्रिपाठी

लघुकथा -कलश
85 **बड़ी छोटी मछली**
डॉ. शशि गोयल

काव्य-मधुबन
86 माधव कौशिक
87 अनिरूद्ध सिन्हा
88 हर्षवर्धन आर्य
89 वीना श्रीवास्तव
90 कविता विकास
91 अन्नपूर्णा कौल
92 **गतिविधियाँ आई सी सी आर**

प्रकाशकीय

कुमार तुहिन
महानिदेशक

किसी देश की संस्कृति को व्यक्त करने के लिए धर्म, दार्शनिक चिंतन, साहित्य, संगीत, कला एवं शासन-प्रबंध की व्याख्या अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य कैसे अपने धर्म का विकास करता है, किन-किन मूल बिन्दुओं पर चिंतन करके अपने दर्शन-शास्त्र को समृद्ध करता है, साहित्य संगीत और कला का कैसे सृजन एवं विकास करता है। अपने समाज एवं राष्ट्र के भविष्य को सर्व लोकहितकारी एवं सन्तोषप्रद बनाने के लिए जिन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सामरिक संस्थाओं व प्रथाओं को वह विकसित करता है उन सबके आकलन के पश्चात जो समावेशी निष्कर्ष निकलता है वही उस राष्ट्र की संस्कृति का आधार होता है। इन सभी बिन्दुओं पर अगर हम विचार करें तो एक विचार सर्वमान्य रूप से निकल कर आता है कि इस सारे उपक्रम की अभिव्यक्ति कैसे हो? इनका संप्रेषण कैसे हो? अपनी बात अर्थात विचार, दर्शन, कला, साहित्य, संगीत, प्रबंधन आदि-आदि को अभिव्यक्त करने के लिए अथवा संप्रेषित करने के लिए एक सहज, सरल एवं वैज्ञानिक भाषा की आवश्यकता होती है। इस बात में शंका हो नहीं सकती कि प्राचीनकाल से ही भारतीय भाषायें अत्यन्त समृद्ध रहीं तथा अपने विकास की यात्रा के क्रम बनाये रखा। भारतीय संस्कृति लोक-भाषा, लोक गीतों-कथाओं के माध्यम से देशांतरों की यात्रा करती रही और प्रचार-प्रसार पाती रहीं। उदाहरण स्वरूप रामचरित मानस को ही ले लें। तुलसी के रामचरित मानस ने लोक-साहित्य को माध्यम बनाकर यात्रा की और विश्व का कंठाहार बन गयी।

प्रयोक्ताओं की संख्या की दृष्टि से हिंदी विश्व की प्रथम दो प्रमुख भाषाओं में से एक है। विश्व के लगभग 80 देशों में आज हिंदी बोली, समझी एवं पढ़ी जाती है। हिंदी के वैश्विक विकास का मुख्य कारण है इसका सरल व सहज होना। हिंदी की एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि यह जैसे बोली जाती है वैसे ही लिखी जाती है। जबकि अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, जर्मनी आदि भाषाओं में यह तत्व दिखाई नहीं पड़ता। हिंदी की यही विशेषता इसकी सफलता का कारण है।

वर्तमान समय में हिंदी का प्रचार-प्रसार वैश्विक स्तर पर दो तरह से हो रहा है-प्रथम श्रेणी के अंतर्गत वे देश आते है। जो हिंदी का विश्व भाषा के रूप में पठन-पाठन कर रहे हैं जिनमें रूस, चीन, जापान, नार्वे, स्वीडन, पोलैंड, आस्ट्रेलिया, मैक्सिको, अमेरिका, इंग्लैड, जर्मनी, हंगरी आदि देश प्रमुख हैं। दूसरी श्रेणी के अंतर्गत वे देश शामिल हैं जहाँ प्रवासी भारतीय या भारतवंशियों की संख्या बहुतायत में है। चूँकि इनकी मातृभाषा हिंदी रही है इसलिये ये जिन देशों में भी गये अपनी भाषा एवं संस्कृति को निरंतर सहेजते, समेटते एवं समृद्ध करते रहे। फिजी, सुरीनाम, गुयाना, म्यानमार, मॉरीशस, थाईलैंड, नेपाल, श्रीलंका, मलेशिया, दक्षिण अफ्रीका इनके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अत: यह कहने में अतिश्योक्ति नहीं है कि दोनों प्रकार के देशों में आज हिंदी का भाषाई वर्चस्व और रचना संसार विपुल और समृद्ध है।

आज हिंदी वैश्विक पटल पर एक नये आत्मविश्वास के साथ खड़ी नजर आने लगी है। आज भारत एक नये मोड़ पर खड़ा है। यह बदलाव का मोड़ है, यह विकास का मोड़ है और हर्ष का विषय यह है कि बदलती हुई परिस्थितियाँ हिंदी एवं भारतीय भाषाओं के विकास एवं विस्तार के लिए प्रतिबद्ध नजर आ रही हैं।

कुमार तुहिन

संपादकीय

डॉ. आशीष कंधवे
संपादक

संस्कृति बौद्धिक उन्नति का पर्यायवाची सभ्यता भौतिक विकास का समानार्थी

प्रकृति संस्कृति का मूलाधार है। प्रकृति तीन गुणों से बनती है। सत्व, रज एवं तम। भारत सात्विक गुण भावना प्रधान देश है, अत: यहाँ की संस्कृति उच्चतम एवं सुखमय है। इसी सात्विक गुण के कारण भारत में अनंत काल से आध्यात्मिकता का प्रचार एवं प्रसार हो रहा है। उपनिषद की अवतारणा इस देश में हुई है। यह ऋषि मुनियों की धर्मभूमि है। भारतीयों ने पृथ्वी को माता का पद प्रदान कर आदर भाव व्यक्त किया है। यहीं से संस्कृति की उत्पत्ति शुरू होती है। अर्थात् हम ये कह सकते हैं कि संस्कृति ब्रह्म स्वरूप है। संस्कृति अपने आप में अत्यंत गंभीर और व्यापक शब्द है। इसको व्यक्त करना इतना सरल नहीं है। संस्कृति का अर्थ एक वाक्य में कहें तो "समय के सापेक्ष जो भी सकारात्मक सीख अथवा शोध कर भविष्य के समाज के लिए संग्रहित करते हैं उसे हम संस्कृति कहते हैं।" संस्कृति यानी 'समस्त सीखा हुआ व्यवहार', अर्थात वे सब बातें जो हम समाज के सदस्य होने के नाते सीखते हैं। इस अर्थ में संस्कृति शब्द परंपरा का पर्याय है। शरीर और आत्मा की भाँति सभ्यता एवं संस्कृति जीवन के दो भिन्न आचरण को व्यक्त करती हैं। सभ्यता जीवन का रूप है। संस्कृति उसका सौंदर्य है।

सभ्यता अथवा "सिवलीजेशन" शब्द 17वीं शताब्दी से मिलता है। सभ्यता को संस्कृति की विकसित अवस्था का द्योतक भी माना जाता है। कुछ विद्वानों ने संस्कृति और सभ्यता को पर्यायवाची माना है। किन्तु दोनों में भेद है। सभ्यता एक सामाजिक व्यवस्था है जिसके द्वारा मानव की जीवन यात्रा सरल-सुखद होती है। संस्कृति चिंतन और कलात्मक सृजन है जो जीवन को समृद्ध बनाती है। सभ्यता का संबंध नागरिकता से भी है वहीं संस्कृति समाज और प्रकृति का द्योतक है। सृष्टि का उद्देश्य भी भूमि की प्राकृतिक अवस्था को शुद्ध करना है। संस्कृति बौद्धिक विकास की अवस्थाओं को सूचित करती है जबकि सभ्यता का परिणाम शारीरिक और भौतिक विकास है। यों मनुष्य जीवन के दो पक्ष होते हैं - एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक जीवन। इन दोनों प्रकार के जीवनों में सम्यक संतुलन बनाना है। जैसी प्रकृति होती है वैसी प्रवृति होती है, जैसी प्रवृति होती है वैसी सभ्यता बदलती रहती है। सभ्यता के अनुकूल संस्कृति परिणत होती है। संस्कृति का संबंध मुख्यत: मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, मन प्रवृत्तियों से होता है। संस्कृति बौद्धिक उन्नति का पर्यायवाची है और सभ्यता भौतिक विकास का समानार्थी है। सभ्यता बाह्य क्रियात्मक रूप है, संस्कृति विचारधारा का परिणाम है।

भारत की अपनी विशिष्ट संस्कृति है। यह जड़ एवं अपरिवर्तनशील है। 'भा' का अर्थ है प्रकाश। 'भारत' का अर्थ है प्रकाश में रत अर्थात एकचित्त होकर अनुष्ठान करने से संप्राप्त संस्कार-संपन्नता। यही भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति को समग्रता में हिंदू संस्कृति से समीकृत किया जा सकता है। हमारा आग्रह यही है कि हिंदू संस्कृति इस देश की सबसे प्रधान और व्यापक संस्कृति है। मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं का जो व्यापक चित्र हिंदुओं के साहित्य में उपलब्ध होता है वैसा किसी दूसरी जाति या धर्म के साहित्य में

नहीं। यह एक विशाल सांस्कृतिक धारा है, जिसे अनेक उपधाराओं में पुष्ट एवं सम्पन्न किया है। इसलिए यह संपूर्ण लोक में प्रसिद्ध है कि 'संस्कृते संस्कृति रस्ति' इति। यह ऋषिओं और मुनियों की संस्कृति है। इसके प्रवाह में शक, हूण, यवन, पठान, मुगल, अरब सबने अपनी अपनी उपधाराओं के जल मिलाए फिर भी पुण्य भागीरथी की तरह इसकी मूल धारा अविच्छिन्न है। सभी जल एक हो गये हैं। इसमें पश्चिम का विराट प्रवाह भी आ मिला है और इसमें घुल-मिल गया है। इसलिये भारतीय संस्कृति सामाजिक संस्कृति का ज्वलंत उदाहरण है।

मानव प्रकृति और मानव संस्कृति, दो अलग-अलग भावबोध हैं। संस्कृति प्रकृति धर्मा है, इसलिये संस्कृति में स्वाभाविक अनुकूलन के गुण विद्यमान हैं।

सामाजिक अनुकूलन जाति और समाज, दोनों के हित में होता है। इस अनुकूलन का समाज के संपूर्ण अंगों में विद्यमान होना ही समाज और व्यक्ति के हित में होता है। अनुकूलन की स्थिति तब आती है जब समाज में विघटन की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगती हैं तथा भेदभाव, दुष्प्रचार, जातिवाद, तुष्टिकरण, आर्थिक असमानता या अन्य किसी कारण से सामाजिक विघटन शुरू हो जाता है। इसलिये जब तक अनुकूलन के प्रयास चलते रहते हैं सामाजिक समरसता, दर्शन एक प्रेरक के रूप में क्रियाशील रहता है। अत: निष्कर्ष यह है कि किसी भी राष्ट्र के सामाजिक अनुकूलन के लिये समरसता का भाव बोध अथवा समरसता दर्शन का अध्ययन-अध्यापन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

मनुष्य और जीवों की वास्तविक सत्ता उसके विचारों से होती है। शारीरिक शक्तियों की उपयोगिता और अनुपयोगिता सदैव वैचारिक शक्ति पर निर्भर करती है। जीव कितना भी शक्तिशाली क्यों ना हो सफलता उसी को प्राप्त होती है जिसकी वैचारिक क्षमता सशक्त होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जीवन के उत्थान एवं सफलता के लिए तीव्र वैचारिक क्षमता की जरूरत है ना कि शारीरिक क्षमता की। वैचारिक क्षमता विचारों के प्रवाह और उसकी प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। जिन विचारों के प्रवाह का समय आ जाता है उसे रोक पाना किसी के वश की बात नहीं होती। उसका प्रचार-प्रसार होता ही है चाहे आप उसमें भागीदार हो या नहीं हो। क्योंकि विचारों में अतुलनीय शक्तियाँ निहित होती हैं। विचार अपने अनुरूप काल-सापेक्ष परिणाम जरूर देता है। प्रत्येक मुष्य का स्वभाव उसके वैचारिक झुकाव पर निर्भर करता है। व्यक्ति शारीरिक रूप से कितना भी मजबूत क्यों ना हो विचार-शक्ति की कमजोरी उसे दुर्बल बना देती है जिसके कारण उसको हर मोड़ पर पराजय का सामना करना पड़ता है ।

किसी व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व उसके विचारों की वैचारिक अवधारणा होती है, ना कि व्यक्ति का शारीरिक संगठन। मनुष्य विचारों का पुतला मात्र है। सकारात्मक विचार उसे संत, महात्मा अथवा नायक बना देते हैं वहीं नकारत्मक विचार मिलते ही दुष्टात्मा और शैतान बना देते हैं।

एक विचार के साथ एक व्यक्ति का जन्म होता है, एक विचारधारा में वह अपना जीवन जीता है तथा एक विचार में उसकी मृत्यु हो जाती है। जन्म और मृत्यु के बीच के कालांतर में उपस्थित मनुष्य के जीवन में जो कुछ भी घटित होता है वह विचारों का ही प्रवाह है जिसे हम विचारधारा कहते हैं। "विचारों की इसी गति से सभ्यता का निरूपण होता है और कालांतर में संस्कृति का स्वरूपन।"

अत: एक मनुष्य का पूरा जीवन विचारों के निरूपण या फिर एक विशेष प्रकार के वैचारिक गुत्थियों को सुलझाने में ही व्यतीत हो जाता है। आँखों ने क्या देखा क्या नहीं देखा इस से कोई खास फर्क नहीं पड़ता। फर्क इस बात से पड़ता है कि देखने के बाद आपके अन्दर किस प्रकार के विचारों का जन्म हुआ। इसलिए यह जरूरी है कि समय रहते आप स्वयं को जानें, समझें और अंतत: अपने विचारों को धर्म के तुला पर तोल के देखें। हर व्यक्ति के अन्दर एक धर्म रूपी तुला अवस्थित होती है। एक बार उस आंतरिक तराजू पर अपने विचारों को तोल कर जरूर देखना चाहिए। आपके जीवन की अनेक समस्यायों का निराकरण एवं निरूपण स्वत: ही हो जायेगा।

गगनांचल का एक और अंक आपके हाथों में है। यह अंक कैसा लगा आप अपनी प्रतिक्रियाओं से अवगत अवश्य कराएँगे। हमें आपके बहुमूल्य सुझावों की सदैव प्रतीक्षा रहती है। इति।

डॉ. आशीष कंधवे
मोबाइल : +91-9811184393
ई-मेल : editor.gagananchal@gmail.com

आदिम इतिहास के आलोक में लोक प्रतीकों व मिथकों का अध्ययन

- डॉ. विभा ठाकुर

वन्य संस्कृति से कृषि और कृषि से नगरीय संस्कृति तक की यात्रा एकरेखीय नही थी। वन्य व घूमंतुओं के आदिम समाज के लंबे संघर्ष से मनुष्य को छुटकारा तब मिला जब उसने खेती व पशुपालन करना शुरू किया। जिसकी शुरुआत 10,000 वर्ष पूर्व कृषि संस्कृति के साथ हुई और यह आदिम मानव इतिहास की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। इतिहासकारों के अनुसार आज से 10000 वर्ष पूर्व ग्लेशियर के खत्म होने से वनों में कमी आई और भोजन का संकट पैदा हुआ। हो सकता है इस संकट ने शिकारी संग्राहक समाजों को घरेलू जानवरों को पालने और फसल उगाने के लिए प्रेरित किया हो। कृषि संस्कृति की रोचक कथा हमें विष्णु पुराण में भी मिलती है - "भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों में नवम स्थान पर पृथु अवतार की कथा आती है। यह अवतार ऋषियों की प्रार्थना पर हुआ।

प्रत्येक संस्कृति के अपने मिथक होते हैं। इन मिथकों में आदिम जीवन के सूत्र खोजे जा सकते है। प्रतीक और मिथक हर संस्कृति के आदिम धरोहर माने जाते हैं। यह एक प्रकार से आद्य इतिहास है। आदिम मनुष्य ने विकास यात्रा के क्रम में यथार्थ जगत के अनुकरण पर काल्पनिक लोक का सृजन करते हुए मिथक और प्रतीकों को गढ़ा होगा। क्योंकि उसकी कल्पना में बाह्य जगत के संघर्ष की तुलना में प्रतीक व मिथकों का संसार अधिक सुंदर और रहस्यमय होता है। माना जाता है कि किसी भी भाव व विचार से सादृश्य समानता स्थापित करने के लिए मनुष्य की कल्पना की अभिव्यक्ति में जो सर्वनाम बनते हैं, वह प्रतीक की संज्ञा ग्रहण कर लेते हैं। लोक अपने जीवन अनुभवों के निष्कर्षों को प्रतीकों व मिथकों के रूप में संरक्षित रखता रहा है इसलिए विद्वानों का मानना है कि जनजातीय समाज के आदिम प्रतीक और मिथक प्रारंभिक विकासशील जीवन के दस्तावेज हैं। लोक कथाओं में व्याप्त मिथकों से मनुष्य की अद्भुत तार्किक व वैज्ञानिक चिंतन दृष्टि का परिचय मिलता है। रोमिला थापर के शब्दों में - "जिन समाजों में साहित्य की अपेक्षा आनुश्रुतिक परंपरा बड़े पैमाने पर संचार का माध्यम होते हैं (और ऐसे समाजों में अधिकांश प्रागाधुनिक समाजों का समावेश होगा) उनमें मिथक एक दूसरे तक सूचना पहुँचाने का एक साधन बन जाते हैं। इसलिए एक सतत समंजन की प्रक्रिया चलती रहती है और पूर्व कालों के मिथकों को परवर्ती कालों की सामाजिक मान्यताओं के सांचे में ढाल लिया जाता है। एक ही मिथक को शायद कुछ संशोधनों के साथ काल दर काल दोहराते रहने का उद्देश्य कुछ तो यह होता है कि संदेश सभी तक पहुँचता रहे और कुछ यह है कि उसमें युगानुरूप कुछ नई बातें भी जोड़ दी जाएँ इसलिए मिथकों का समाज के सभी पहलुओं के साथ एक सर्वग्राही संबंध होता है और प्रत्येक बड़ा मिथक विस्तृत विश्लेषण का विषय हो सकता है। "पृ 254-55 (रोमिला थापर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास)

प्रलय व सृष्टि के उद्भव की लोककथाएँ आदिम समाजों (जिन्हें आहार संग्राहक के रूप में जाना जाता था) का कृषि समाज में परिवर्तित होने की परिस्थितियों और जरूरतों को समझने में मदद करतीं हैं। ये कथाएँ ऐतिहासिक परंपरा में जनजातीय समाजों के प्रस्थान बिंदु सुलभ कराते हैं। बैगा जनजाति में प्रचलित उत्पत्ति की लोककथाओं से इस बात को समझा जा सकता है। इन कथाओं के कुछ सूत्र मानव विकास के अंधेरे कोनों को प्रकाश में ला सकती है। इस समाज की लोककथाओं में सृष्टि उत्पत्ति की कथा कुछ इस प्रकार है - प्रारंभ में पानी ही पानी था। भगवान पत्ते में बैठे थे। एक बार ईश्वर धरती को ढूँढ़ने निकले लेकिन धरती नहीं मिली। तब ब्रह्माजी ने अपने छाती के मैल से कौवै का निर्माण किया और कौवे से बोले जाओ धरती का पता लगाओ। आदेश पाते ही कौआ उड़ गया। उड़ते-उड़ते उसे केकड़ा दिखा, कौआ केकड़े के पास गया और बोला मुझे धरती की मिट्टी दो। धरती की मिट्टी देने के लिए

केकड़ा कौवे को दबा कर पाताल लोक ले गया। पाताल लोक के राजा ने कौवे को मिट्टी दे दी। केकड़े के साथ कौवा मिट्टी लेकर भगवान के पास गया। कौवे द्वारा लाए गए मिट्टी को भगवान ने चारों तरफ बिखेर कर धरती की रचना की। अपनी बनाई धरती को देखने के लिए भगवान जब धरती पर गए तो धरती हिलने लगी। धरती को स्थिर करने के लिए भगवान ने अगरिया की रचना की। अगरिया ने ईश्वर के आदेश पर लोहे की कीलें बनाई और उसे चारों कोने में ठोकने के लिए तब ईश्वर ने नागा बैगा को भी बनाया। इसी नागा बैगा ने धरती के चारों तरफ कील ठोकने का काम किया। तभी से बैगा धरती की रक्षा कर रहे हैं। इस किवदंती के अनुसार ब्रह्मा जी ने नागा बैगा को इसलिए बनाया की वह धरती की रक्षा करे। लोक कथाएँ तर्क की नहीं भाव की माँग करती है। ये कथाएँ अपने युग की चिंताओं और घटनाओं के आधार पर रची गई हैं। इन कथाओं को बुनते हुए प्रतीकों और मिथकों का प्रयोग किया जाता है। सुमन राजे के शब्दों में "वैदिक और लोकतात्विक मिथकों के विकास क्रम से होकर गुजरना काल की एक रोमांचक यात्रा है, हालांकि यह एक गुम होती हुई नदी की यात्रा है।"

बैगा जाति की लोककथाओं की तार्किक समीक्षा करें तो कहा जा सकता है कि बैगा और अगारिया कही जाने वाली जातियाँ उन्हीं आदिम पूर्वजों के संकेत हो सकते है जिन्होंने प्रलय के बाद मीलों यात्राएं तय करके आपदाओं में अपनी आवश्यकता अनुरूप नए आविष्कारों से मानव जीवन को व्यवस्थित करने का कार्य किया होगा। यही लोग प्रलय के बाद जलजीवों के अनुकरण पर तैरना और नौका बनाने की प्रेरणा से प्रलय के बाद सुरक्षित स्थानों पर डेरा जमाने में कामयाब हुए हों और जीवनयापन के लिए नमीयुक्त दलदल भूमि में खेती करने लगे होंगे। बैगा स्वयं को आदिम कृषि का आविष्कारक मानते हैं। 1000 वर्ष पूर्व लोहे की खोज का संबंध अगारिया जनजाति से हो सकता है। जो उस समय लोहे को ढालने व उसके औजार बनाने का कार्य करते होंगे। आदिम इतिहास के ऐसे बहुत से संकेत इनकी लोककथाओं में बिखरे हुए हैं। खेती के दो चरणों में पहला चरण जंगम खेती या झूम खेती का था। जिसमें वनों के झाड़-झंखाड़ को जलाकर भूभाग साफ किया जाता था और फिर बीजों को जमीन में बिखेरकर अनाज उगाया जाता था। थोड़ी बहुत खेती बाड़ी और शिकार करके बैगा लोग अपना जीवनयापन करते थे। जब तक आदि मानव ने स्थायी रहना नहीं सीखा तब तक स्थान बदल-बदल खेती करने की परंपरा थी। धरती की उर्वरता बनी रहे इसलिए यह एक स्थान पर लंबे समय तक खेती नहीं करते थे। इस प्रकार की खेती को ही आज बैवर या झूम /स्थानांतरित खेती के नाम से जाना जाता है। इसका एक बहुत लंबा इतिहास है और इसके अवशेष पिछली शताब्दी तक बने रह गए थे जिसमें घने जंगलों को जलाकर खेती करने की परंपरा आदिवासियों में देखी जा सकती है। झूम की खेती करने वाले मध्य भारत से लेकर पूरे उत्तर भारत में पाए जाते हैं।

झूम की खेती के बाद मानव विकास का दूसरा चरण स्थायी आवास और खेती का है। आदिम मनुष्य की सांस्कृतिक यात्रा के साक्ष्य जनजातीय समाज के मिथकों और प्रतीकों में दबे हुए हैं जिनके सहारे मनुष्य की विकासयात्रा के अंधकारयुग के रहस्यों और पहेलियों को सुलझाने में पुरातत्त्वविदों को आसानी हो सकता है। पुरातत्वविदों के अनुसार 10,000 वर्ष पूर्व बर्फ के पिघलने से जलवायु में परिवर्तन हुए जिसके परिणामस्वरूप पूरी दुनिया में बहुत से जीव विलुप्त हो गए। क्योंकि उस युग में मानव अपने भोजन के लिए वन्य जीवों का अंधाधुंध शिकार करने लगा था। शिकार में अत्यधिक विस्तार होने के कारण पर्यावरण संतुलन बिगड़ने से कई जीवों के विलुप्त होने की स्थितियाँ पैदा हुई होंगी। जंगली जानवरों के विलुप्त होने के कारण माना जाता है कि भारत में नमी युक्त वन के बड़े भूभाग में शिकारी संग्राहक समाज खेती करने लगा। इस प्रकार ये समुदाय घुमंतू से खेतीहर समाजों में परिवर्तित होने लगे। फिर भी कई ऐसे बड़े क्षेत्र हैं जहाँ अभी भी शिकारी संग्राहक और झूम खेती करने वाले आदिवासी समाजों का अस्तित्व है। इनके समाज में प्रकृति संरक्षण के पारंपरिक मान्यताएँ जैसे कुल देवता के रूप में पौधों और पशुओं की सुरक्षा की परंपरा अभी भी अपने आदिम रूप में देखी जा सकती हैं। इनके अपने टैबू और टोटम जैसी प्रथा के कारण प्रकृति संरक्षण को बढ़ावा मिलता रहा है।

वन्य संस्कृति से कृषि और कृषि से नगरीय संस्कृति तक की यात्रा एकरेखीय नही थी। वन्य व घूमंतुओं के आदिम समाज के लंबे संघर्ष से मनुष्य को छुटकारा तब मिला जब उसने खेती व पशुपालन करना शुरू किया। जिसकी शुरुआत 10,000 वर्ष पूर्व कृषि संस्कृति के साथ हुई और यह आदिम मानव इतिहास की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। इतिहासकारों के अनुसार आज से 10000 वर्ष पूर्व ग्लेशियर के खत्म होने से वनों में कमी आई और भोजन का संकट पैदा हुआ। हो सकता है इस संकट ने शिकारी संग्राहक समाजों को घरेलू जानवरों को पालने और फसल उगाने के लिए प्रेरित किया हो। कृषि संस्कृति की रोचक कथा हमें विष्णु पुराण में भी मिलती है - "भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों में नवम स्थान पर पृथु अवतार की कथा आती है। यह अवतार ऋषियों की प्रार्थना पर हुआ। कथा है कि स्वयंभु मनु के वंश मे अंग नामक एक प्रतापी राजा हुए। उनका विवाह मृत्यु की मानस-पुत्री सुनीथा के साथ हुआ। इससे वेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वेन बहुत दुष्ट एवं क्रूर राजा था। उसकी दुष्टता से तंग आकर राजा अंग स्वदेश छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गये और फिर वापस नहीं लौटे। अंग के अज्ञात स्थान पर चले जाने के कारण पूरे राज्य में अव्यवस्था फैल गयी। अतः विवश होकर भृगु आदि ऋषियों ने क्रूर वेन को ही राजा बना दिया। वेन राजा बनते ही अत्याचार करने लगा। उसने सारे धार्मिक कार्यों पर रोक लगवा दी। ऋषियों के समझाने-बुझाने पर भी वह नहीं माना। अतः उसके अत्याचारों और धर्म विपरीत आचरण को देखकर

ऋषियों-मुनियों ने उसका वध कर दिया। वेन की मृत्यु का समाचार पाकर उसकी माता सुनीथा बहुत दुखी हुई। वह मन्त्र आदि के बल से वेन के शव की रक्षा करने लगी। इधर ऋषियों-मुनियों ने विचार किया कि राज्य में सुख-शान्ति की स्थापना के लिए एक सुयोग्य राजा का होना आवश्यक है अतः उन्होंने राजा वेन की भुजाओं का मन्थन किया तब उनसे स्त्री-पुरुष का एक जोड़ा प्रकट हुआ। ऋषियों ने उस स्त्री पुरूष को दैवीय अवतार कहा और विष्णु अंश पृथु और लक्ष्मी रूपा अर्चि का विवाह करवाया गया। कुछ दिनों बाद ऋषियों और देवताओं ने पृथु का राज्याभिषेक किया। एक दिन प्रजा ने राजा पृथु से निवेदन किया कि इन दिनों देश अन्नहीन हो गया है। हम लोग भूख से मरे जा रहे हैं। आप हमारे अन्नदाता हैं इसलिए अपनी प्रजा के लिए शीघ्रातिशीघ्र अन्न की व्यवस्था करनी चाहिए। पृथु ने प्रजा की दारूण स्थिति का दोषी पृथ्वी को ठहराया। उनकी समझ में आ गया कि पृथ्वी ने ही अन्नादि को अपने अन्दर छिपा लिया होगा। अतः पृथ्वी को दंडित करने के लिए राजा धनुष-बाण लेकर पृथ्वी की ओर चल पड़े। राजा पृथु को अपनी ओर आता हुआ देखकर पृथ्वी गाय का रूप बदलकर भागने लगी। राजा उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। भागते-भागते पृथ्वी जब थक गई तब आत्मसमर्पण करते हुए बोली कि धरती के दुराचारी लोग पृथ्वी के अन्नादि का अंधाधुंध भक्षण करते जा रहे थे। उनसे सुरक्षित रखने के लिए ही मैंने अपने भीतर अन्न को छिपा लिया है। यदि आप उसे प्राप्त करना चाहते है तो इसके लिए आपको एक बछड़े का प्रबंध करना होगा। मैं उस बछड़े के स्नेह से पिन्हाकर दुग्धरूप में धरती के भीतर की सब वस्तुएँ आपको लौटा दूँगी। यह सुनकर राजा पृथु ने मनु को बछड़ा बनाकर अपने हाथ से गाय रूपी पृथ्वी को दुह कर समस्त धन धान्यों एवं औषधियों को प्राप्त कर लिया। बाद में पृथु ने पृथ्वी (धरित्री) को अपनी पुत्री के रूप में स्वीकार कर लिया। इसी कारण पृथ्वी को धात्री भी कहा जाता है। माना जाता है कि राजा पृथु ने सम्पूर्ण पृथ्वी को समतल करके खेती योग्य बना दिया। इसके बाद से ही कृषि संस्कृति का आरंभ हुआ। कृषि, गोरक्षा वाणिज्य-व्यापार आदि भी उसी समय से आरम्भ हुए। यह कथा आर्य अनार्य, देव व असुर के संघर्ष के परिणामस्वरूप धरती के गर्भ से जीवन रस का रीत जाने के बाद भूख और अकाल की स्थिति की ओर इशारा करती है। इस कथा से समझा जा सकता है कि आहार के संकट में वन्य अनाजों और दूसरी वनस्पतियों का अतिशय दोहन होने के कारण उसका विनाश हुआ और अत्यधिक चराई से हरे-भरे क्षेत्र मरुस्थल में बदलने लगे होंगे। इसी तरह अत्यधिक शिकार के कारण पूरी की पूरी जैव प्रजाति नष्ट होने की कहानियों से भी हम परिचित हैं। ठीक यही स्थिति उस अभाव के कारण पैदा हुई होगी जिससे उनका वन्य रूप में भी उगना असंभव हो गया इसलिए इस कथा को पुराणों में पृथु की कथा के माध्यम से दर्शाया गया है। इस कथा के प्रतीकार्थ से कृषि संस्कृति के उद्भव के कारणों को समझा जा सकता है। धरती द्वारा समस्त औषधियों को अपने भीतर छिपा लेना, फिर वेन के पुत्र पृथु द्वारा धरती रूपी गाय और मनु रूपी बछड़ा बनाकर धरती का दोहन करना वास्तव में शिकारी जातियों का कृषि समूहों में रूपांतरण होने के संकेत है। पृथु के युग में अकाल के दौर में बहुत परिश्रम से बीजों को सहेजने और उनको बोकर नई फसल उगाने की आवश्यकता महसूस हुई होगी। इस कथा से इस बात का भी संकेत मिलता है कि पृथु (जिसके नाम पर धरती को पृथ्वी भी कहा जाता है) के समय से ही राजतन्त्र की स्थापना हुई होगी इसलिए शतपथ ब्राह्मण में पृथु को पृथ्वी का पहला राजा कहा गया है।

भगवान सिंह के अनुसार "सृष्टि के विध्वंस के संदर्भ में संभव है कि आरंभिक समाजों में प्राकृतिक स्रोतों से आहार के सुलभता के कारण जनसंख्या आहार के अनुपात में अधिक बढ़ गई हो और इसके कारण लोग वनस्पतियों को तैयार होने से पहले ही अपनी भूख मिटाने के लिए उसे खा लेते हो इससे प्राकृतिक वनस्पति समय से पहले ही नष्ट हो जाती रही हो। कुछ मौसम परिवर्तन भी इसका जिम्मेदार रहा होंगा जिससे आहार के प्राकृतिक स्रोत नष्ट होते गए हों। ऐसी स्थिति में जीने के लिए खेती की आवश्यकता को जन्म दिया और धीरे-धीरे लोभी प्रवृत्ति होने के कारण वह अधिक से अधिक भूमि को अपनी खेती के लिए उपयोग करने और खेतो के निकट स्थायी बस्तियों का बसना आरंभ हुआ होगा। " पृ 113 भगवान सिंह: भारतीय सभ्यता की निर्मिति

भारतीय शास्त्रों व लोक में वर्णित अनेक कथाएँ भारतीय संस्कृति के विकास क्रम को सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिसके तार्किक व वैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता है। शास्त्र पुराण की परंपरा में सृष्टि उद्भव संबंधी प्रलय की कथा शतपथ ब्राह्मण से लेकर महाभारत में भी इसका वर्णन किया गया हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि महाप्लावन या प्रलय की घटना का संबंध सृष्टि के विध्वंस और उसके निर्माण से निश्चित रूप से जुड़ी हुई है। प्रलय का संबंध जल के अस्तित्व और पृथ्वी पर जीवन की संभावनाओं के साथ मनु को सृष्टि के पहले मानव के रूप में स्वीकार करती है। कथा कुछ इस प्रकार है कि मनु प्रातः काल आचमन कर रहा था तो उसके हाथ में मछली आ गई। उसने मनु को अपना पालन-पोषण करने के लिए कहा और उसके बदले में उसे प्रलय से बचाने का वचन दिया। मछली ने ही मनु को बताया कि देवताओं ने प्रलय के द्वारा समस्त सृष्टि का नाश करके मनुष्य जाति को दंडित करने का निर्णय किया है। इसी मछली ने नौका बन मनु को प्रलय के समय उतरी पर्वत पर पहुँचा दिया।जब पानी का स्तर कम हुआ तो उसने पहाड़ की ढलान से उतर कर मनु को जंबू द्वीप पहुँचाया। पूरे द्वीप पर मनु अकेला था इसलिए उसने देवताओं के लिए यज्ञ किया जिससे एक स्त्री उत्पन्न हुई जिसका नाम इला था। इसी इला के साथ मनु ने मानव जाति को उत्पन्न की। इस कथा से ज्ञात होता है कि मनु यानि मनुष्य का अस्तित्व प्रलय से पहले से था। मछली का प्रतीकार्थ उस मान्यता का द्योतक है जहाँ माना जाता है कि प्राकृतिक आपदा का

संकेत जल में रहने वाली मछलियों को पहले से ही हो जाता है इसलिए सभी मछलियां समुद्र तट की ओर आ जाती हैं। हो सकता है कि यह संकेत पाकर मनु (मानव) ने जल प्लावन से बचने की तैयारी कर ली होगी इस कारण वह जल प्रलय से बच पाया होगा। भगवान सिंह के अनुसार – "सुमेरी सभ्यता को दुनिया का प्राचीन सभ्यता माना जाता है परंतु सुमेर में सभ्यता का सूत्रपात करने वाले सभ्यता के सभी घटकों को बना बनाया लेकर वहाँ पहुँचे थे। इसी तरह हड़प्पा सभ्यता के नगर स्थलों से पता चलता है कि उनकी स्थापना जिन लोगों ने कि वे पहले ही तकनीकी दक्षता में अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँचे हुए थे इसलिए एक और हड़प्पा के नागर चरण को असाधारण उपलब्धि बताया जाता है तो दूसरी और यह शिकायत की जाती है कि यह सभ्यता नागर चरण के आरंभ से ही ठहराव की स्थिति में थी और बाद के वर्षों में तो इसमें गिरावट भी आने लगी थी।...इसका अर्थ यह हुआ कि सभ्यता का उदय सुमेर में नहीं, सिंधु घाटी में नहीं हुआ, ईरान में नहीं हुआ।...अतः इसका आरंभ कहीं अन्यत्र हुआ जिसके विकास और खिसकाव के प्रमाण इन प्राचीन सभ्यताओं में लक्ष्य किए जाते हैं। उस क्षेत्र के विषय में भी हम आज तक अंधकार में ही हैं। ....यूरेशिया से लेकर भारत तक एक विप्लव सा घटित हुआ होता है जिसमें लोग जीवन रक्षा के लिए यत्र तत्र भागकर दिखाई देते हैं। इन सभी की आकस्मिकता और लघु काल सीमा हमें चकित करती है परंतु अभी तक जब हम इनके कारक सूत्रों को जोड़ने मिलाने में सफल नहीं हो पाते। प्रकृति की विध्वंस लीला और उससे उत्पन्न मानवीय त्रासदी के ऊपर ध्यान दिए बिना भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक और भाषाई वैविध्य को मानव सभ्यता के उद्भव और विकास को संक्षेप में कहें तो विश्व के इतिहास को भी नहीं समझा जा सकता। पृ 285 भारतीय सभ्यता की निर्मिति

सृष्टि के संदर्भ में बैगा जनजाति की उत्पत्ति की लोककथा अत्यंत रोचक है जो इस प्रकार है- बहुत समय पहले चारों ओर पानी ही पानी था। पानी में केवल एक कमल का फूल और कुछ पत्ते थे। पत्तों पर देवता बैठा करते थे। एक बार काफी तेज हवा चली जिससे पत्तों पर पानी भर गया और देवता भीग गए। देवता क्रोधित हुए। उन्होंने इसका उपाय करने के लिए विचार किया और पानी पर धरती की खोज करने के लिए सोचा, किन्तु उन्हें धरती का पता नहीं मिला। एक दिन धरती की खोज करते हुए उन्हें एक द्वीप मिला जहाँ नागा बैगा निवास करते थे। नागा बैगा के पास देवता गए और नागा बैगा से धरती खोजने का वचन लिया। नागा बैगा धरती के बारे में कुछ नहीं जानते थे। इसलिए उन्होंने कौवे का स्मरण किया और कौवे को धरती ढूंढने के लिए कहा। कौवे ने विशाल रूप धारण किया और उड़ गया। कौआ कई वर्षों तक उड़ता रहा। एक दिन विश्राम के लिए एक मीनार जैसा टीला दिखा कौआ उसपर बैठ गया। कौवा जिसे मीनार समझकर बैठा था वास्तव में वह केकड़े की पीठ थी। केकड़ा उस समय सूर्य की आराधना कर रहा था। कौवे के बोझ से केकड़े का जबड़ा टूट गया। क्रोधित केकड़े ने अपने दूसरे जबड़े से कौवे का गला दबोच लिया।तब कौवे ने केकड़े को अपनी पूरी व्यथा बताई। व्यथा सुन कर केकड़ा कौवे की मदद करने के लिए तैयार हो गया। कौआ केकड़े पर सवार होकर आगे बढ़ा और कुछ समय पश्चात उन दोनों की मुलाकात हाड़न राजा से हुई। वहाँ उन्हें एक नाग कन्या दिखी। उसे धरती समझ केकड़े ने उसे फुसलाने का प्रयत्न किया और कामयाब हो गया और कन्या को लेकर आगे चल पड़ा। रास्ते में केचुआ नामक दानव मिला, उसने अपनी माया से कन्या को निगल लिया। केकड़ा और कौआ कन्या को अपने साथ न पाकर चिंतित होकर इधर-उधर देखने लगे, तभी उसी समय एक गिलहरी ने उस दानव की तरफ इशारा कर दिया। केकड़े ने केचुएं के पेट में अपना जबड़ा चुभा दिया तब केचुएं ने कन्या को छोड़ दिया। कन्या को वापस पाकर दोनों पुनः आगे बढ़ने लगे। केकड़ा और कौआ कन्या को लेकर देवताओं के पास गए। देवताओं ने कौआ और केकड़े के साथ नाग कन्या का स्वागत किया और उस कन्या के स्वयंवर की धोषणा की लेकिन स्वयंवर में कन्या ने किसी देवता को नही बैगा को चुना। सभी देवता आश्चर्य में पड़ गए लेकिन कन्या की इच्छा का सम्मान करके नागा बैगा को आदर के साथ बुलाया गया। नागा बैगा साधू थे, वे शरीर में भस्म लगाये हुए थे। नाग कन्या ने नागा बैगा के गले में वरमाला डाल दी। इस बात से नागा बैगा क्रोधित हो गया। उसने कहा कि मैं इसे पुत्री मानता हूँ, इसने ऐसा पाप क्यूँ किया। और नागा बैगा ने फरसे से नाग कन्या के दो टुकड़े कर दिए। कन्या का खून सारे पानी में फैल गया और फैले खून को बैगा तथा देवताओं ने थपथपाया और वह कुछ समय बाद वह खून जम गया। वही खून जमने के बाद धरती की सतह बन गई। धरती के ऊँचे स्थान पहाड़ और नीचे स्थान समुद्र तथा झील बन गए। इस कथानुसार नागा बैगा ने भूमि का निर्माण किया इसलिए वह भूमिया कहलाया। धरती नागा बैगा की बेटी है, इसी कारण बैगा धरती पर हल नहीं चलाते। आगे एक कथा और जुड़ जाती है कि धरती के विवाह के लिए बादल को वर चुना गया। बादल सज-धज के आने लगा उसी समय जोर की हवा चली और बादल को उड़ा ले गई। तब बादल को लाने के लिए पहाड़ी को भेजा गया। तब से पहाड़ी बादल को रोकती है और बरसात कराती है और धरती फलती-फूलती है। यानि वर्षा के बाद धरती पर बिना हल की खेती की खोज बैगाओं की देन हो सकती है।

इन लोककथाओं से आहारसंग्राहक मानव समूहों का कृषि समाजों में रूपांतरण होने की स्थितियों का अनुमान लगाया जा सकता है। जिन क्षेत्रों पर पहले भोजन संग्राहकों का कब्जा था वहाँ

संसाधन उपयोग कर खेती और चरागाह का प्रभाव बढ़ता गया। खेती और चरागाही करने वालों का रहन सहन और संसाधनों के उपयोग का तरीका स्वाभाविक रूप से भोजन संग्राहकों से अलग था। भोजन संग्राहक अपने क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधन के संरक्षण पर काफी ध्यान देते थे किंतु खेती करने वाले लोगों के लिए जंगल और इसके जंगली जानवर दुश्मनों का संसाधन आधार थे। इसलिए खेतिहर लोग वनों के संरक्षण के बजाय इसे नष्ट करने लगे। कृषक समुदायों द्वारा वृक्षों, तालाबों के स्थान पर प्रकृति की अमूर्त शक्तियों को पृथ्वी, अग्नि, हवा, जल और आकाश को अलौकिक शक्ति का रूप मानकर उसकी पूजा आराधना की जाने लगी। कृषक समुदायों द्वारा शिकारी संग्राहको को अधीन बनाने और उनके संसाधनों पर कब्जा करने के लिए वह इन अलौकिक शक्तियों की सहायता लेने लगे। इन अलौकिक शक्तियों में अग्नि और जल सबसे अधिक प्रभावकारी थे। अग्नि की मदद से जंगल साफ किया जाना लगा और जल द्वारा खेती के लिए मैदानी भाग को फसलों के लिए प्रयोग किया जाने लगा। इसलिए कृषि संस्कृति में यज्ञ को कर्मकांड के रूप में अपनाने की परंपरा देखने को मिलती है। इन यज्ञों में अग्नि और जानवरों के मांस का बड़ी मात्रा में प्रयोग किया जाता था।

महाभारत में खंडवा जंगल को जलाने का प्रसंग कृषक समुदायों द्वारा आहार संग्रहकों को वन से बेदखल करने की घटना पर प्रकाश डालता है। अर्जुन द्वारा जंगल को जलाने का प्रसंग वास्तव में खेतिहर चरागाही वंश के लोगों की सहायता करना है। घने वन साफ कर उस स्थान को इंद्रप्रस्थ राजधानी के रूप में बदल देना वन संस्कृति से कृषि संस्कृति को बढ़ावा देना है। इस कथा में जंगल को जलाकर जंगली जानवरों और भोजन संग्रहण करने वाली जातियों को नष्ट कर ब्राह्मण कृषि समूहों की सहायता करते हैं। महाभारत का यह प्रसंग सभ्यता के विकास क्रम को समझने में मदद कर सकता है। कथा है कि कृष्ण और अर्जुन खंडवा के जंगलों में घूमने के लिए गए हैं यह जंगल यमुना नदी के किनारे था। जहाँ आज दिल्ली शहर बसा हुआ है कृष्ण और अर्जुन के सामने एक गरीब ब्राह्मण आता है और भिक्षा माँगता है अपने भिक्षा में वह बताता है कि वह अग्नि देवता है और वह बहुत दिनों से भूखा है। उसकी भूख खंडवा जंगल और उसके उस में निवास करने वाले सभी जीवों को जलाने के बाद ही शांत होगी। कृष्ण और अर्जुन उसकी माँग को मान लेते हैं और इसके बाद अग्नि देवता उन्हें यह काम पूरा करने के लिए तीर तथा धनुष देते हैं। जंगल में आग लगा दी जाती है। कृष्ण और अर्जुन जंगल के चारों तरफ से घेर लेतें है। आग की लपटों से बचने के लिए जो जीव जंगल से भागने का प्रयास करते हैं वे उन्हें जंगल में वापस भेज देते हैं इसमें नाग भी शामिल है। नाग का प्रतीकार्थ भोजन संग्राहक जनजातियों की ओर संकेत करता है जो सांपों की पूजा करते होंगे। पृष्ट 71 (यह दरकती जमीन भारत का पारिस्थितिक इतिहास : माधव गाडगिल, रामचंद्र गुहा)

बैगा जाति द्वारा वनभूमि का प्रयोग झूम की खेती के लिए करना कृषि संस्कृति के विकास का परिचायक है। झूम की खेती उन स्थानों पर की जाती थी जहाँ हल से खेती करना संभव नहीं था विशेषकर पहाड़ों और वन क्षेत्रों पर झूम खेती करने की परंपरा जनजातीय समाज में देखी जा सकती है। बैगा जनजाति के कई मिथक और कहानियां में झूम खेती के संदर्भ बिखरे हुए हैं। इस खेती के लिए निश्चित वन्य क्षेत्रों को जलाकर साफ करके उसपर कुछ वर्षो तक खेती की जाती है और फिर उस स्थान को बारह वर्षों या उससे अधिक समय के लिए छोड़ दिया जाता है। इसके पीछे ऐसी धारणा है कि बार बार अन्न उपजाने के कारण भूमि का पोषक तत्व कम हो जाता है। परंपरागत रूप से झूम खेती पर निर्वाह करने वाली जनजाति हल से खेती नहीं करती इनका विश्वास है कि हल जोतना धरती मां के सीने को तकलीफ पहुँचती है साथ ही उनका विश्वास है कि धरती की एक ही टुकड़े से बार-बार अनाज नहीं माँगा जा सकता। जनजातीय समाजों में इस प्रकार के टेबू व टोटम अपने समय की आवश्यकताओं से निर्मित किए गए होंगे।

सृष्टि के विकास और विनाश से संबंधित भारतीय लोक व जनजातीय संस्कृति के प्रचलित प्रतीकों व मिथकों के गह्वर में अनंत रहस्य दबे हुए है जो आदिम समाज से लेकर विकसित समाज तक की यात्रा के विविध पड़ावों को क्रमबद्ध तरीके से समझने में मदद कर सकती है। आदिवासियों की पारंपरिक मान्यताओं को विकसित समाजों के लिए अवरोध मानकार उनको मुख्यधारा से अलग करके देखना अपने आदिम इतिहास से अनभिज्ञ होने का नतीजा है। अत: आधुनिकता की आंधी में विलुप्त होते समुदायों के मिथकों और कथाओं को आदिम इतिहास का दस्तावेज मानकर लिपिबद्ध करना जरूरी है।

संदर्भ ग्रंथ

1. भारतीय सभ्यता की निर्मिति : भगवान सिंह, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली, वर्ष 2012
2. भारतीय परंपरा की खोज : भगवान सिंह, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, वर्ष 2011
3. यह दरकती ज़मीन; भारत का पारिस्थितिक इतिहास : माधव गाडगिल, रामचंद्र गुहा, अनुवाद कमल नयन चौबे, प्रकाशक ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा भारत में प्रकाशित, वर्ष 2018
4. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, रोमिला थापर, अनुवादक आदित्यनारायण सिंह, प्रकाशक ग्रंथ शिल्पी, वर्ष 2001
5. आर्य संरचना का पुनर्गठन : रोमिला थापर, अनुवाद आदित्य नारायण सिंह, प्रकाशक, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, वर्ष 2011
6. निराला रचनावली-8 संपादक नन्द किशोर नवल, राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

✦✦✦

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कालिंदी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विमर्शों के खांचों में बंटता हिंदी साहित्य और राष्ट्रवाद की अवधारणा

- कोमल

विमर्श जीवन की जिजीविषा को संपूर्ण करने की प्रक्रिया है। वह जिजीविषा राष्ट्र के लिए हो सकती है, स्वयं के अस्तित्व के लिए हो सकती है, सामाजिक समुत्थान के लिए हो सकती है, गरीबों के कल्याण के लिए हो सकती है, शिक्षा के लिए हो सकती है या फिर राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं के संरक्षण के लिए हो सकती है। क्या वह विमर्श नहीं है जो पुरुष -28 डिग्री में लगातार भयंकर कारगिल के क्षेत्र में खड़े रहते हों वह विमर्श नहीं है? यह विमर्श क्यों नहीं है इसको खांचे में क्यों नहीं लाया गया? क्या वहाँ संघर्ष नहीं है? क्या वहाँ मानसिक उत्पीड़न नहीं है? क्या वहाँ खतरा नहीं है? कौन सी ऐसी चीज है जो नहीं है वहां पर? लेकिन हमने उसको विमर्श के दायरे में नहीं लिया।

संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी शब्दकोशों में बहुत से विद्वानों द्वारा 'विमर्श' शब्द को परिभाषित किया गया है। ज्ञान शब्दकोश में विमर्श का तात्पर्य 'विचार, विवेचन, परीक्षण, समीक्षा, तर्क, ज्ञान।' आदि के रूप में अंकित किया गया है। "संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश" में विमर्श को इस प्रकार से परिभाषित किया गया है- ''विचार-विनिमय, सोच-विचार, परीक्षण, चर्चा।'' जबकि "हिन्दी विश्व कोश" में विमर्श शब्द को इस तरह समझाया गया है-

'वितर्क, विचारना, तथ्यानुसंधान, किसी तथ्य का अनुसंधान, विवेचना, आलोचना, युक्ति द्वारा परीक्षण करना, असंतोष, अधैर्य, अधीरता।'

विमर्श का अर्थ होता है किसी विषय वस्तु अथवा व्यक्ति की चैतन्यता की जांच करना। वह कितना जीवंत है। कितना उपयोगी है। कितना चैतन्य है। उसमें कितनी संभावनाएं हैं। जब हम किसी व्यक्ति की चैतन्यता मापते हैं तो उसकी बौद्धिकता से मापते हैं। जब हम किसी वस्तु की चैतन्यता मापते हैं तो उसकी उपयोगिता से नापते हैं। जब किसी विचारधारा की चैतन्यता हम मापते हैं तो उसे अपने हित के अनुरूप मापते हैं बिलकुल वैसे ही जैसे धर्म। पूजा करना धर्म है लेकिन भगवान के प्रति स्वयं को समर्पित कर देना भी धर्म ही है। जबकि ईश्वर दिखाई नहीं देते, सुनाई नहीं देते फिर भी हम उनके अनुयायी द्वारा बताए गए सिद्धांतों का पालन करना, उसी के अनुरूप आचरण करना और स्वयं को ढाल लेना ही अध्यात्म है। अर्थात धर्म जहां से खत्म होता है वहीं से अध्यात्म की शुरुआत होता है। मृत्यु जहां होती है वहीं से मोक्ष का आरंभ होता है। अतः धर्म और अध्यात्म में बिल्कुल वही अंतर है जो मृत्यु और मोक्ष में है। अमूमन लोग कहते हैं जब मृत्यु हो गई तब हमें क्या करना? तब हमारा इस संसार से क्या वास्ता है? तब यही चैतन्यता आती है यही तो विमर्श है। विमर्श का अर्थ है खोजना। विमर्श का अर्थ है किसी को ऊंचा या नीचा दिखाना नहीं बल्कि उसमें निहित जितने विषय है उन सभी विषयों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से गवेषणा करना और अन्वेषण करना।

यदि एक विधवाओं का आश्रम चल रहा है। उन विधवाओं के आश्रम में जो संकट है तो विधवाओं के साथ उनका निवारण 'विमर्श' है। यहां यह विमर्श नहीं है कि उन विधवाओं के पास पहनने के लिए कपड़ा नहीं है और उनके अंग दिखाई दे रहे हैं। एक गरीब का मजाक उड़ाना विमर्श नहीं है बल्कि गरीब के लिए क्या ऐसा किया जाए कि

वो उत्कर्ष के मार्ग पर चले, यह विमर्श है। डॉ भोलानाथ के अनुसार विमर्श का अर्थ है-

''तबादला-ए-खयाल, परामर्श, मशविरा, राय-बात, विचार विनिमय, विचार विमर्श, सोच विचार।''

विमर्श बिल्कुल वैसा ही होता है जैसे स्वेटर बुनते समय एक घर के गिर जाने से पूरा का पूरा पल्ला बिखर जाता है तो विमर्श में जब हम अपने मुद्दे से भटक जाते हैं तो वह बिल्कुल एक घर गिरने जैसा होता है। जो आपके कांटे से छूट गया है वो तल्ला तो होता है लेकिन वो उसमें छिद्रान्वेषण होता है उसमें एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति होती है। उसमें आर-पार झांकने की व्यवस्था बन जाती है यानी निर्लज्जता विमर्श नहीं है। विमर्श का अर्थ है जिजीविषा।

विमर्श जीवन की जिजीविषा को संपूर्ण करने की प्रक्रिया है। वह जिजीविषा राष्ट्र के लिए हो सकती है, स्वयं के अस्तित्व के लिए हो सकती है, सामाजिक समुत्थान के लिए हो सकती है, गरीबों के कल्याण के लिए हो सकती है, शिक्षा के लिए हो सकती है या फिर राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं के संरक्षण के लिए हो सकती है। क्या वह विमर्श नहीं है जो पुरुष -28 डिग्री में लगातार भयंकर कारगिल के क्षेत्र में खड़े रहते हैं वह विमर्श नहीं है? यह विमर्श क्यों नहीं है इसको खांचे में क्यों नहीं लाया गया? क्या वहाँ संघर्ष नहीं है? क्या वहाँ मानसिक उत्पीड़न नहीं है? क्या वहाँ खतरा नहीं है? कौन सी ऐसी चीज है जो नहीं है वहां पर? लेकिन हमने उसको विमर्श के दायरे में नहीं लिया। "मानक हिन्दी कोश " में विमर्श का अर्थ इस प्रकार है -

'सोच विचार कर तथ्य या वास्तविकता का पता लगाना।

किसी बात या विषय पर कुछ सोचना समझना। विचार करना। गुण-दोष आदि की आलोचना या मीमांसा करना (डेलिबरेशन)। जाँचना और परखना। किसी से परामर्श या सलाह करना।'

बीसवीं सदी के आरंभ में हिंदी साहित्य ने वैश्विक वर्चस्व स्थापित किया था। एक तरफ कथाकारों में प्रेमचंद थे जो विश्व विख्यात हो रहे थे, दूसरी तरफ कविताओं के माध्यम से रविंद्र नाथ टैगोर विश्व को भारत के समर्थ साहित्य के बारे में बता रहे थे। एक तरफ महावीर प्रसाद द्विवेदी थे जो अपने संपादन कौशल से दुनिया को अचंभित कर रहे थे वहीं दूसरी ओर जयशंकर प्रसाद थे जो अपने कवित्व से भारत को जागृत कर रहे थे।

स्वतंत्रता के पूर्व भारत की जो मानसिकता थी और जो मन था वो एकचित्त था, एकनिष्ठ था कि हमें स्वतंत्रता चाहिए। जातिवाद के होते हुए भी हम जातियों में विभक्त नहीं थे। मन में विद्वेष नहीं था। एक दूसरे के प्रति घृणा नहीं थी और प्रतिस्पर्धा भी संपूर्ण रूप से विकास के लिए थी, विदेशी पराधीनता से मुक्ति के लिए थी। हमारा लक्ष्य केवल "भारतीय स्वतंत्रता" थी।

1947 के स्वतंत्रता संग्राम से पूर्व हमने जिस स्वतंत्रता के पास पहुंच करके उसे खोया था, आज हम उसे 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम के रूप में याद करते हैं। हिंदी साहित्य को जीवंत करने में भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक और जयशंकर प्रसाद से लेकर के समकालीन युग में प्रवासी कथाकारो में तेजेंद्र शर्मा तक ने हिंदी को समृद्ध किया और वैश्विक पटल पर भारतीय साहित्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाया। लेकिन जब स्वतंत्रता के पश्चात स्थितियों में बहुत तेजी से बदलाव हुआ। स्थितियों का बदलाव केवल मानसिक स्तर पर नहीं हुआ बल्कि पाठ्यक्रमों के स्तर पर भी हुआ और विचारधारा के अनुरूप अपनी सत्ता को केंद्र में रखकर और अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप सभी विषयों को पढ़ाया गया। विज्ञान को अगर किसी और दृष्टिकोण से पढ़ाने की सोचे तो पढ़ाया नहीं जा सकता, गणित को किसी और दृष्टिकोण से नहीं पढ़ा जा सकता, ऐसे ही भूगोल को किसी और दृष्टिकोण से, किसी विचारधारा में लपेटकर नहीं पढ़ाया जा सकता था परंतु साहित्य जो समाज को सबसे ज्यादा उद्वेलित करता है, संप्रेषित करते है, संपोषित करता है, संचित करते है और संबल प्रदान करते है उसके साथ यह दुर्भाग्य भी जुड़ा हुआ है कि उसे अपनी विचारधारा में समेट कर भी पढ़ाया जा सकता है जैसे कि साहित्य इतिहास। यही वह समय था संक्रमण काल था जब हम भारतीय हिंदी साहित्य को खांचों में बांटने लग गए। कोई प्रगतिशील हो गया। कोई प्रयोगवादी हो गया। कोई किसी और खेमे में बट गया। कोई वामपंथ का सहायक हो गया। कोई वामपंथ का विरोधी हो गया और हिंदी साहित्य देखते ही देखते अपनी संपूर्णता को, अपनी अखंडता को खोते हुए वर्षों के भ्रम जाल में फंस गया। इसको विमर्शों का भ्रम जाल मैं इसलिए कह रही हूँ क्योंकि विमर्श किसी एक विद्या का तो नहीं हो सकता है लेकिन विद्या के अंतर्गत जातिवाद, क्षेत्रवाद, राष्ट्रवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद आदि इन सब को केंद्र में रखकर नहीं हो सकता है। इससे किसी भी प्रकार के विमर्श की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह विमर्श के नाम पर उत्कर्ष नहीं है यह अपकर्ष है। अतः विमर्शों के माध्यम से हमने हिंदी साहित्य के उत्कर्ष को अपकर्ष के मार्ग पर ले जाना शुरु कर दिया। धीरे-धीरे विमर्शों

के मठ बन गए। उनके मठाधीश बन गए। सबने अपने-अपने अनुसार अपनी-अपनी विचारधारा और आवश्यकताओं के अनुरूप समय को परिभाषित किया और हिंदी साहित्य को अभूतपूर्व क्षति पहुंचाई।

मैं कुछ उदाहरण भी दूंगी। क्या प्रेमचंद स्त्री विमर्श के सबसे उत्कृष्ट उदाहरण नहीं है? लेकिन विमर्श जैसे किसी शब्द का प्रयोग तो उन्होंने नहीं किया। क्या प्रेमचंद दलित विमर्श के उद्घोषक नहीं है? क्या जयशंकर प्रसाद ने अपनी कविताओं और नाटकों के माध्यम से राष्ट्र को राष्ट्र बोध नहीं कराया? क्या निराला ने अपनी कविताओं के माध्यम से, अपने छायावादी दृष्टिकोण से सांस्कृतिक चेतना का उद्घोष नहीं किया? क्या अज्ञेय ने अपनी वैचारिक कविताओं से हमारे मन को आंदोलित नहीं किया? लेकिन वह किसी भी विमर्श के खांचे में नहीं बंटे। विमर्श के खांचे में बटने के बाद हिंदी साहित्य की सभी विधाओं की एक तरह से हत्या हो गई। कहानी कहानी ना रहकर स्त्री विमर्श की कहानी हो गई। उपन्यास उपन्यास न रहकर दलित का उपन्यास हो गया। कविता कविता न रहकर विरोध की राजनीति हो गई।

"Compulsion Theory of life" के सिद्धांत को व्यक्ति को हमेशा याद रखना चाहिए। जब भी हम कुछ लिखते हैं तो उसमें कुछ ऐसा होना चाहिए कि पढ़ने वाला मजबूर हो जाए कि आगे क्या होगा ? कुछ लोग इसे ठीक से समझ नहीं पाते हैं परंतु यह व्यक्ति के दबाव का थ्योरी नहीं होता बल्कि प्रवृत्ति, प्रकृति और वायुमंडल के नैसर्गिक दबाव के अंतर्गत, प्रावधान के अंतर्गत और परंपराओं के अंतर्गत जब हम बंद हो जाते हैं तब उसे थ्योरी ऑफ कंपल्शन कहते हैं अर्थात यह मनुष्य के द्वारा निर्मित भी हो सकता है परंतु मानने के लिए बाध्य होना आवश्यक नहीं है। दूसरी तरफ प्रकृति के द्वारा, प्रवृत्ति के द्वारा, परंपराओं के द्वारा अगर सुनिश्चित किया गया हो और एक लक्ष्मण रेखा खींच दी गई हो जिसके भीतर हमें जीना है तो उसे भी थ्योरी ऑफ कंपल्शन कहते हैं।

रचना मानस पटल पर स्थायी होनी चाहिए। "स्थायित्व" उसमें होता है जिसमें रोचकता, ज्ञान, काल के अनुरूप समावेश और राष्ट्र का बोध हो इसलिए 'भारत भारती' अजेय है। मैं उसको अजेय रचना कहती हूं। उस पर जय प्राप्त करने के लिए भारत में उससे बड़ा कोई लेखक आया है क्या? जो 'भारत भारती' से भी उत्कृष्ट कुछ लिख करके दिखाएं। कोई जयशंकर प्रसाद पैदा तो हो जो कामायनी से आगे की परिकल्पना कर ले। प्रेमचंद कोई और पैदा तो हो जो निर्मला से भी सुंदर पात्र का निर्माण कर सकें या पुनर्निर्माण कर सके। कोई ऐसा तो हो जो रेणु की भाँति आंचलिक शब्दों का प्रयोग कर उन जैसा उपन्यास लिख सके। कोई ऐसा तो हो जो आंचलिक शब्दों का प्रयोग करके एक ऐसा वातावरण पैदा कर दे जिसको छोड़ते समय आदमी विवश हो जाए कि इसको पूरा पढ़कर ही उठें। अर्थात कोई आंचलिक उपन्यासकार 'मैला आंचल' के रचयिता के समकक्ष खड़ा हो कर तो दिखाए इसलिए रेणु होने में और रेणु बनने की प्रक्रिया दोनों में जो फर्क होता है उसी के भीतर भारत में विमर्श खोजा गया। उनको अंचल का उपन्यासकार कहा जाता है परंतु वह अंचल के उपन्यासकार नहीं है वो राष्ट्रीयता के, भारतीय चेतना के, भारतीय लोक संस्कृति के, भारतीय लोक परंपराओं के, भारतीय लोक भाषाओं के उपन्यासकार हैं। इस तरह से इनको विमर्शों में बांटकर के समकालीन युग में जितने भी विमर्श हैं - स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि इन विमर्शों के माध्यम से हम साहित्य को कहां ले जा रहे हैं? यह भी विचारणीय है।

साहित्य का अर्थ होता है सामाजिक समुत्थान का उद्घोषक, सामाजिक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य का निर्माण।

साहित्य का अर्थ यह बिल्कुल नहीं होता हैं विद्रोह। साहित्य का अर्थ यह बिल्कुल नहीं होता हैं आंदोलन। साहित्य का अर्थ है बिल्कुल नहीं होता विध्वंस। साहित्य का अर्थ यह बिल्कुल नहीं होता हैं अपमान। साहित्य तो सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक समृद्धि का नाम है। जो हित करे वह साहित्य है। जो संस्कृति का हित साधक हो वह सांस्कृतिक साहित्य है। जो समाज का हित साधक हो वह सामाजिक साहित्य है। जो किसी क्षेत्र का हित साधक हो वह क्षेत्र का साहित्य है। यदि कोई भाषा का हित साधक हो तो भाषा के उत्कर्ष का साहित्य है। लेकिन यहां विमर्श के नाम पर स्त्री के उत्थान के लिए विमर्श नहीं हो रहा है बल्कि स्त्री की देह का विमर्श हो रहा है। स्त्री के निजी अंगों पर विमर्श हो रहा है। उसकी संपूर्ण चेतना पर विमर्श नहीं हो रहा है उसकी मानसिक विकलता पर विमर्श नहीं हो रहा बल्कि उसकी शारीरिक क्षमताओं और भोग की प्रवृत्तियों पर विमर्श हो रहा है। उसकी यौनिक जो इच्छाएं है उस को उजागर करने या उसकी कुंठाओं को उजागर करने पर विमर्श करने का प्रयोग किया जा रहा है इसलिए इस समय न हिंदी के साहित्य का विकास होगा। न उसकी श्रीवृद्धि होगी और न ही स्त्री विमर्श के नाम पर स्त्रियों को कोई मार्ग मिलने वाला है, कोई उत्थान होने वाला है इसलिए मैं उसको भ्रम का साहित्य कहती हूं। विमर्श अर्थात भ्रम का साहित्य।

प्रेमचन्द दलितों के सवालों को उसी रूप में रखते हैं जिस तरह दलितों के सवालों को सिद्धों, नाथों, कबीर, रैदास, नानक आदि ने रखा है। वह दलित आंदोलन का हिस्सा नही है, लेकिन उनकी वैचारिकी में यह सवाल चल रहा कि कैसे दलितों को उनके अधिकार दिए जाने चाहिए। दलितों के संबंध में प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में एक पूरी परम्परा गढ़ी है। उपन्यास के सम्बंध में देंखे तो रंगभूमि में पहली बार हिंदी उपन्यास में नायक एक दलित है, कर्मभूमि में दलितों के मंदिर-प्रवेश करना प्रमुख मुद्दा है, प्रेमाश्रम में अछूतों से बेगारी व किसानों द्वारा भी उनसे अच्छा व्यवहार न किए जाने का चित्रण हुआ है। कायाकल्प में भी दलितों द्वारा बेगार करवाए जाने की प्रथा के प्रतिरोध के स्वर मुखरित हुए हैं। गबन में प्रेमचंद ने देवीदीन खटीक के माध्यम से राष्ट्रीय आंदोलन में दलितों के योगदान को रेखांकित किया है। इस तरह हम देखते हैं कि ये पात्र हमें स्वयं बता रहे हैं कि सांस्कृतिक चेतना का जो उद्घोषक है वह दलित कैसे है।

अतः साहित्य को व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों दृष्टिकोण से देखना होता है वैसे ही राष्ट्र को भी व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों दृष्टिकोण से देखना चाहिए। साहित्य संस्कृति, समाज और भाषा के लिए एक ओर आधार भूमि प्रदान करता है वहीं दूसरी ओर राष्ट्र इन सभी मानवीय चेतना के विषयों को संरक्षित करने का काम करता है। राष्ट्र अपने आप में संपूर्ण होता है। साहित्य उस संपूर्णता को और समृद्ध करता है। यही कारण है कि एक व्यक्ति को साहित्यिक मूल्यांकन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर करना चाहिए ताकि समाज के पढ़ने वाले उसके अनुकूल और प्रतिकूल प्रभावों से भविष्य को सूचित और संरक्षित किया जा सके। जहां तक प्रश्न विमर्शों का है कहीं ना कहीं हिंदी साहित्य अपनी मूलभूत भावना और मंगलाशा की कामना को छोड़कर स्वार्थपरक दिखाई पड़ता है। साहित्य को सदैव राष्ट्र के लिए स्वार्थी होना चाहिए। राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए स्वार्थी होना चाहिए। राष्ट्र के संवैधानिक और सांस्कृतिक मूल्यों के लिए स्वार्थी होना चाहिए। भाषा और संस्कृति के संरक्षण के लिए स्वार्थी होना चाहिए परंतु विगत कुछ दशकों में ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य ना ही परंपरावादी रहा और न ही प्रगतिशील। हम एक ऐसे मार्ग पर निकल पड़े हैं जहां सिर्फ बंटवारा है, विभेद है और विमर्शों के नाम पर भारतीय साहित्यिक चेतना को बांटने का कुत्सित प्रयास है।

आज हिंदी साहित्य वैश्विक स्तर पर चर्चा का विषय नहीं है क्योंकि हमारे साहित्य से मंगल कामनाएं, सामाजिक समरसता और राष्ट्र को एकरस करने की प्रवृत्ति समाप्त हो रही है। समय के साथ साथ हमें साहित्यिक परंपराओं का पुनः अध्ययन करते हुए राष्ट्रहित के अनुरूप नई पीढ़ी को संवारना होगा ताकि भारत की आने वाली पीढ़ियां भारतीय बनी रहें। आज विमर्श का बाजार इतना बड़ा हो चुका है कि साहित्य विमर्श की भेंट चढ़ता हुआ नजर आता है। इससे सबसे बड़ा नुकसान भाषा और पाठक को हुआ है। पाठक कहीं न कहीं साहित्य के माध्यम से व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों आकांक्षाओं को संपूर्ण करना चाहता है। उसे जीना चाहता है। हिंदी साहित्य के विमर्शों में बंट जाने के कारण पाठक की संतुष्टि का सूचकांक बहुत तेजी से कम होने लगा और एक तरह से नई पीढ़ी के पाठकों ने विमर्श केंद्रित साहित्य को लगभग पढ़ना बंद कर दिया या फिर कोई एक विशेष वर्ग के बीच में ही वह थोड़ा बहुत स्थान बना पाया।

जब तक साहित्य राष्ट्रीय चेतना और भारतीय पारंपरिक अवधारणा के अनुरूप नहीं लिखा जाएगा तब तक एक साधारण नागरिक जो अपने परिवार और देश से प्रेम करता है उस साहित्य को आत्मसात नहीं कर पाएगा। साधारण व्यक्ति जिसे हम आम आदमी कहते हैं वह विषय की विशिष्टता में न पड़ कर उसकी सरलता और सहजता में विश्वास करता है जो हिंदी साहित्य की परंपरा रही है। हिंदी साहित्य का सौंदर्य रहा है और हिंदी साहित्य को भारतीय स्वरूप प्रदान करने वाला रहा है। संक्षेप में, आप इसे हिंदी साहित्य का राष्ट्रवाद कह सकते हैं जिसमें लोक आस्था से लेकर लोक भाषाओं की बात हो, लोक परंपराओं से लेकर लोक त्योहारों में आस्था हो और जिसमें लोक की शक्ति को पहचान कर लोकतंत्र तक को परिभाषित किया जा सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. हिंदी आलोचना की परिभाषा शब्दावली, डॉ अमरनाथ, वर्ष 2018, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं - 46
2. हिंदी पर्यायवाची कोश, सं भुलानाथ तिवारी, पृष्ठ सं - 572
3. मानक हिंदी खोज, खंड 5, सं रामचंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृष्ठ - 373
4. हिंदी शब्दकोश, डॉ हरदेव बाहरी, राजपाल एंड संस प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 751
5. भारतीय राष्ट्रवाद, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ संख्या - 183
6. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन- 2001, नई दिल्ली, पृष्ठ सं - 239
7. राष्ट्रीय भारतीयता और पत्रकारिता, सं प्रोफेसर संजय द्विवेदी, पब्लिशर्स एंड डिसटीब्यूटर्स प्रकाशन, पृष्ठ संख्या - 124
8. वाक् (नए विमर्शों का त्रैमासिक 2007, अंक - 3) पत्रिका, संख्या 225
9. वाक् (नए विमर्शों का त्रैमासिक 2007, अंक - 3) पत्रिका, संख्या 229
10. राष्ट्रवाद रविंद्र नाथ टैगोर - अनुवाद सौमित्र मोहन, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2003, पृष्ठ संख्या - 67

सी - 56 वेस्ट ज्योति नगर, एनक्लेव, लोनी रोड शाहदरा, दिल्ली 94, फोन - 7859926773, ईमेल - komal43857@gmail.com

लोकजीवन की भावसंगति दुनिया और भिखारी ठाकुर की परंपरा

- डॉ. सुनील कुमार शॉ

बिहार की यह नृत्य परंपरा लोक की झलक प्रस्तुत करती है। बिहार के लोक नाट्य एवं लोकनृत्य की परंपरा के इतिहास में इसका विशेष स्थान है। बिहार के मिथिला क्षेत्र में इसे 'छकरबाज़ नाच' के नाम से जाना जाता है। नाच की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है बस नाम का अन्तर है। 'लौंडा' शब्द का अर्थ अविवाहित युवक है। कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में युवकों/किशोरों को 'लौंडा' कहकर पुकारा जाता है। दूसरे शब्द 'छकरबाज़' शब्द छोकरा और बाज से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है छोकरों का शौक रखने वाला। लेकिन यह अर्थ अव्यवहारिक है। 'छकरबाज़ नाच' के संदर्भ में वह युवक जो स्त्री की तरह पोशाक पहनकर नाचता हो या गीतिनाट्य में हिस्सा लेता हो उसे 'छकरबाज़' कहा जाता है। इस नाच में कई प्रकार के पुरुष शामिल होते हैं।

भारतीय समाज प्राचीन समय से ही कई प्रकार के बंधनों से जकड़ा हुआ था। इसी के साथ-साथ तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। समाज के धनाढ्य सामंत अपने शौक एवं मनोरंजन के लिए कोठों की या नाचने वाली की ओर रुख करते थे। इस परंपरा ने तवायफ परंपरा को बढ़ाया। इसके बाद बाईजी युग का आरंभ होता है लेकिन इस तक केवल अमीरों एवं तथाकथित समाज के उच्च वर्ग की ही पहुँच होती थी। इस जमींदारों के बीच गरीब मजदूरों की पहुँच आसान नहीं थी। इन्होंने अपने मनोरंजन के लिए एक तरकीब का इजाद किया जिसका नाम है 'लौंडा नाच' या 'छकरबाज़ नाच'। इस नाच परंपरा में पुरुष स्त्री के कपड़ों में नजर आता है। उसके धोती की जगह साड़ी, कुर्ता/कमीज की जगह चटक रंग की ब्लाउज ले लेती है। स्त्री की तरह साज कर जब वह स्टेज पर उतरता है तो कुछ पल तक तो यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि यह स्त्री है या पुरुष। उस वक्त स्त्री, पुरुष की भूमिका में इसलिए भी नजर आता है क्योंकि उस वक्त स्त्रियों के घर से निकालने की सख्त मनाही थी। फिर यह तो नाचने और नौटंकी की बात थी। धीरे धीरे यह नाच परंपरा समाज में अपना स्थान बनाता चला गया और कलांतर में रोजगार का माध्यम भी 'लौंडा नाच' परंपरा बन गया।

भोजपुरी के शेक्सपियर कहे जाने वाले नाटककार, लोक परंपरा के वाहक भिखारी ठाकुर का जन्म बिहार के सारण जिले के कुतुबपुर ग्राम में 18 दिसंबर 1887 ई. को एक सामान्य गरीब परिवार में हुआ था। रोजगार की तलाश में युवक भिखारी ठाकुर बंगाल के खड़गपुर, मेदिनीपुर एवं कलकत्ता तक की यात्रा करते हैं। इन क्षेत्रों में वे खुद को रमा नहीं पाते हैं। वापस बिहार आकर वे अपने पैतृक कार्य में लग जाते हैं। उन्हें यह लगता है कि वे इस काम के लिए नहीं बने हैं। बचपन से उन्हें रामलीला और नाच का शौक था। उन्होंने खुद की मण्डली बनाकर रामलीला एवं नाच आरंभ किया। अपने द्वारा लिखित भोजपुरी नाटक 'बिदेसिया' का मंचन खुद किया। इस नाटक के अतिरिक्त भिखारी ठाकुर के और भी प्रसिद्ध नाटक हैं जैसे बेटी बेचवा, बिधवा-बिलाप, ननद-भौजाई, कलियुग-प्रेम, गबर घिचोर आदि। भिखारी ठाकुर खुद भी स्त्री की भूमिका में मंच पर आते थें। 'लौंडा नाच' परंपरा में कुछ परिमार्जन कर के उन्होने इस पर नया प्रयोग किया और इसे समाज के प्रत्येक वर्ग के बीच लोकप्रिय बनाया। अब तक समाज जिसे खराब समझता था उसे एक नए परंपरा के तहत आगे बढ़ाया। 'लौंडा नाच' परंपरा को आगे बढ़ाकर रोजगार से जोड़ने का श्रेय इनको ही जाता है। इन्होंने बेरोजगार युवाओं को अपनी मण्डली में स्थान दिया। उनमें से कई युवा स्त्री की सज्जा में सजकर मंच पर उतरते थें। भिखारी ठाकुर के कारण बिहार के भोजपुरी सुनने, जानने एवं बोलने वाले क्षेत्रों में नाच की इस विधा को काफी पसंद किया गया। इस शैली को इतना पसंद किया गया कि प्रत्येक सामाजिक आयोजनों जैसे- रामलीला, रासलीला, शादी, मुंडन आदि में इसका प्रदर्शन किया जाता था। इसकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि यह सर्वजन की पहुँच में आसानी से था। एक तरह से भिखारी ठाकुर ने इस परंपरा को आलोचना के जाल से मुक्त करके मंच तक लाया। इसका श्रेय भिखारी ठाकुर को ही जाता है। इनको पहचान भी इसी विधा ने दिलाई लेकिन इससे भी अधिक उनकी लेखनी ने उन्हें अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचाया है। भिखारी ठाकुर के संदर्भ में ऋषि राज

एवं प्रज्ञा ठाकुर लिखते हैं 'भिखारी ठाकुर बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। वह एक लोक कलाकार के साथ कवि, गीतकार, नाटककार, नाट्य निर्देशक, लोक संगीतकार और अभिनेता थे। उनकी मातृभाषा भोजपुरी थी और उन्होंने भोजपुरी को ही अपने काव्य और नाटक की भाषा बनाया. उनकी प्रतिभा का आलम यह था कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने उनको 'अनगढ़ हीरा' कहा, तो जगदीशचंद्र माथुर ने कहा 'भरत मुनि की परंपरा का कलाकार'।1

बिहार की यह नृत्य परंपरा लोक की झलक प्रस्तुत करती है। बिहार के लोक नाट्य एवं लोकनृत्य की परंपरा के इतिहास में इसका विशेष स्थान है। बिहार के मिथिला क्षेत्र में इसे 'छकरबाज़ नाच' के नाम से जाना जाता है। नाच की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है बस नाम का अन्तर है। 'लौंडा' शब्द का अर्थ अविवाहित युवक है। कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में युवकों/ किशोरों को 'लौंडा' कहकर पुकारा जाता है। दूसरे शब्द 'छकरबाज़' शब्द छोकरा और बाज से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है छोकरों का शौक रखने वाला। लेकिन यह अर्थ अव्यवहारिक है। 'छकरबाज़ नाच' के संदर्भ में वह युवक जो स्त्री की तरह पोशाक पहनकर नाचता हो या गीतिनाट्य में हिस्सा लेता हो उसे 'छकरबाज़' कहा जाता है। इस नाच में कई प्रकार के पुरुष शामिल होते हैं। जिनके समक्ष रोजगार की समस्या होती है वे इस परंपरा को आगे बढ़ाने के साथ ही साथ अपने बेरोजगारी की समस्या को दूर कर परिवार का पेट पालते हैं। आज वर्तमान समय में लौंडा नाच या छकरबाज़ नाच की परंपरा लगभग समाप्त होती जा रही है। परंपरा के वाहक अब बेरोजगारी और भुखमरी का शिकार होते जा रहे हैं। इन कलाकारों के समक्ष कई प्रकार की समस्याएं हैं जिनमें प्रमुख हैं समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है। लेकिन यह बात भी सत्य है कि यह लोकनृत्य परंपरा हमारी संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है और ये कलाकार भी हमारे समाज का हिस्सा हैं। आरंभिक दौर में कई प्रकार के मानसिक रोग से पीड़ित लोगों के गुस्सों और गुमानों का इन्हें शिकार होना पड़ता था। बिहार के जिस क्षेत्र से इस लोकनृत्य परंपरा का उदय होता है वहाँ कई प्रकार के बाहुबलियों का बोलबाला था। इन्हें कई बार इनके द्वारा प्रताड़ित होना पड़ता था। आज इस प्रकार की समस्या नहीं है। समय और समाज धीरे-धीरे बदल रहा है। आज सब बाहुबली हैं, कोई किसी से कम नहीं है। समाज के तथाकथित दलित समुदाय को अब दबाया नहीं जा सकता है। वह दौर कुछ और था अब दौर कुछ और है। लोकतान्त्रिक पद्धति ने देश की समस्त जनता को गर्व से जीने का अधिकार प्रदान किया है। इसकी जमीनी हकीकत क्या है, इससे हम सब वाकिफ हैं। इन कलाकारों के जीवन के आंतरिक दर्द को हमें महसूस करना चाहिए।

लोकनृत्य की इस शैली को बिहार, झारखंड में लौंडा नाच, छकरबाज़ नाच आदि नामों से जाना जाता है। भारत के अन्य हिस्सों में भी लोकनृत्य की इस शैली का प्रचलन है। पूर्वोत्तर के राज्य असम में इस लोक नृत्य जिसमें पुरुष स्त्री की तरह पोशाक पहनकर अभिनय करते हैं, का प्रचलन है। इस लोकनृत्य परंपरा को यहाँ 'भाउना' कहा जाता है। 'भाउना' शब्द भाव से बना है जिसका अर्थ होता है भाव से किसी भी कथा या बात को श्रोता, दर्शक तक पहुँचाना। बहुत समय पहले इस राज्य में भी स्त्रियों को घर से बाहर निकलने पर पूर्ण प्रतिबंध था। वे घर में ही रहा करती थीं। मनोरंजन के लिए पुरुष खुद स्त्री की साज कर अभिनय किया करते थें। यह परंपरा आज भी इस क्षेत्र में प्रचलित है। एक विशेष समय में इसका आयोजन किया जाता है। इस लोकनृत्य शैली में कृष्ण की कथा को अपने हाव-भाव के माध्यम से दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। अब आजकल इन नृत्य शैली में महिलाएँ भी हिस्सा लेने लगी हैं। महिलाएँ पुरुष रूप में सजकर पुरुष और स्त्री पात्र दोनों भूमिकाओं में अभिनय करती हैं। पुरुष भी स्त्री की तरह सजकर 'भाउना' लोकनृत्य में हिस्सा लेते हैं। कृष्ण, कंश, देवकी, यशोदा आदि के रूपों में इस प्रकार के भाव लोक नाट्य / लोकनृत्य में अभिनय किया जाता है। यह परंपरा इस राज्य में बहुत पुरानी परंपरा है। मनोरंजन के साथ ही साथ धार्मिक आयोजनों में इस प्रकार के लोक नाट्य का आयोजन किया जाता है। असम में भगवद कथा का आयोजन एक सप्ताह तक किया जाता है। उस कार्यक्रम के अंतिम दिन 'भाउना' का आयोजन किया जाता है। इस तरह के कार्यक्रमों में यहाँ के स्त्री-पुरुष बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। आजकल 'भाउना' के लिए कई मण्डली है जो इस तरह के कार्यक्रमों में प्रदर्शन करते हैं और कभी कभी तो प्रतियोगिता के रूप में भी 'भाउना' का आयोजन किया जाता है।

गुजरात एवं राजस्थान के क्षेत्रों में इस प्रकार के नृत्य शैली को 'भंवाई' कहा जाता है। भारत के इस क्षेत्र में भी आदिकाल में स्त्रियों के बाहर निकलने पर प्रतिबंध था। 'भंवाई' नृत्य में पहले पुरुष स्त्री के वेश में मजाकिया अंदाज़ में नृत्य करते थे। गुजरात एवं राजस्थान के क्षेत्रों में भावनात्मक लोकनृत्य एवं लोक नाट्य के रूप में 'भंवाई' प्रसिद्ध है। अब आजकल इस नृत्य में स्त्री एवं पुरुषों की भागीदारी बराबर है। दोनों ही इस 'भंवाई' लोक नृत्य परंपरा में हिस्सा लेते हैं। पहले केवल पुरुष ही इस लोक नृत्य में होते थें। गुजरात एवं राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में आज भी इस नृत्य की परंपरा जारी है। भारत एवं राज्य सरकार इस नृत्य के कलाकारों को समय-समय पर प्रोत्साहित करते रहते हैं। कला के मर्मज्ञ एवं जागरूक कला प्रेमी इस परंपरा को बचा कर रखने में अपनी महत्वपूर्ण योगदान लगातार दे रहे हैं। किसी भी समाज की पहचान वहाँ की सांस्कृतिक परंपरा एवं विरासत के माध्यम से देखी जा सकती है।

आंचलिक साहित्य में भी इस लोक नाट्य / लोकनृत्य शैली का वर्णन मिलता है। बिहार की पृष्ठभूमि पर लिखने वाले साहित्यकार फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' में भी इस छकरबाज़ नाच का जिक्र किया गया है। नायक गाड़ीवान हीरामन छकरबाज़ नाच देखने के कारण कई बार अपनी भाभी से कई बार डांट सुनता है 'गाड़ी की बल्ली पर उँगलियों से ताल दे कर गीत को काट दिया हिरामन ने। छोकरा-नाच के मनुवाँ नटुवा का मुँह हीराबाई-जैसा ही था। ...क़हाँ चला गया वह जमाना? हर महीने गाँव में नाचनेवाले आते थे। हिरामन ने छोकरा-नाच के चलते अपनी भाभी की न जाने कितनी बोली-ठोली सुनी थी। भाई ने घर से निकल जाने को कहा था।'2 'तीसरी कसम

उर्फ मारे गए गुलफाम' कहानी पर हिन्दी में सिनेमा का भी निर्माण किया गया था। कलात्मक फिल्मों में 'तीसरी कसम' सिनेमा का अलग स्थान है। बिहार की पृष्ठभूमि पर बनी कई फिल्मों जैसे 'गैंग्स ऑफ वासेपुर', 'दामुल' आदि में इस लोकनृत्य का प्रयोग किया गया है।

अश्लीलता एवं भौंड़ेपन का धीरे-धीरे शिकार हो जाने के कारण लौंडा नाच परंपरा बिहार के कुछ अंचलों में अपनी लोकप्रियता खोती चली गई। भिखारी ठाकुर ने कभी सोचा नहीं होगा कि उनके द्वारा नाच की इस परंपरा का हश्र आज यह हो जाएगा। इस लोकनृत्य के लोकप्रियता कम होने का कारण यह भी है कि आज पढ़े-लिखे लोग इसके जगह पर ऑर्केस्ट्रा को ज्यादा तरजीह देने लगे हैं। जिसके कारण यह पारंपरिक नृत्य परंपरा धीरे-धीरे ख़त्म होती जा रही है। विगत कुछ वर्षों से ऑर्केस्ट्रा एवं नाच में लड़कियों के आगमन के कारण इस प्रकार की कई नाच कंपनियाँ बंद हो गई और कुछ बंद होने के कगार पर हैं। एक वह दौर था जब कई-कई कोस और किलोमीटर से लोग टॉर्च और लाठी लेकर रात में लौंडा नाच देखने के लिए चले आते थें। कुछ युवक तो घर में इसके लिए खूब पिटते थे फिर भी लौंडा नाच देखने के लिए किसी न किसी बहाने निकल पड़ते थे। लोगों में इस नृत्य और नौटंकी के लिए जुनून था। उस दौर में मनोरंजन के लिए इस साधन का खूब बोलबाला था। लोग इस पारंपरिक लोकनृत्य की सराहना भी किया करते थें। आधुनिकता और भौतिकतावाद ने मानव सभ्यता को विकसित तो किया ही साथ ही साथ बहुत से लोगों को बेरोजगार भी किया है। विकास के सकारात्मक पहलुओं के साथ विकास का यह रूप भी है जिसे भारतीय समाज व्यवस्था को स्वीकार करना चाहिए।

भिखारी ठाकुर के प्रसिद्ध भोजपुरी नाटक 'बिदेसिया' के तर्ज पर इस लौंडा नाच में कुछ परिमार्जन करके इसे सबसे पहले मंच पर प्रस्तुत कर कला का रूप प्रदान किया। बाद में 'बिदेसिया' लौंडा नाच एक जैसा बन गया। जिसे 'बिदेसिया' शैली कहना उचित होगा। भिखारी ठाकुर स्वयं भी नारी पात्रों का अभिनय बखूबी करते थें। लौंडा नाच आज ख़त्म होने के कगार पर है। यह लोकनृत्य परंपरा हमारे समाज में पला, बढ़ा, जवान हुआ, बूढ़ा हुआ और धीरे-धीरे मर भी रहा है। नाच और अपने रोजगार से संबंधित बातों को खुद भिखारी ठाकुर चौपाइयों में लिखते हैं -

निजपुर में करिके रामलीला। नाच के तब बन्हलीं सिलसिला॥
केहू सराहे, केहू दूसे। केहू जमावऽ कहे अबहूँ से॥
तनिको गावे न आवे बजाये। काहे दो लागल लोग का भावे॥[3]

हमरा बलमु जी के बड़ी-बड़ी अंखिया से,
चोखे-चोखे बाड़े नयना कोर रे बटोहिया।
ओठवा त बाड़े जइसे कतरल पनवा से,
नकिया सुगनवा के ठोर रे बटोहिया।[4]

बिदेसिया नाच/लौंडा नाच परंपरा के धीरे- धीरे ख़त्म होने का कारण 95 वर्षीय रामचंद्र मांझी अश्लीलता को मानते हैं। भिखारी ठाकुर के साथ मंच साझा करने वाले रामचंद्र मांझी इस उम्र में भी उस परंपरा को बचाने के लिए प्रतिबद्ध नजर आते हैं। उम्र के समक्ष यह व्यक्ति बेबस नजर नहीं आता है। कला को बचा लेने की और उसे सँजो कर अगली पीढ़ी के लिए सुरक्षित रखने के लिए रामचंद्र मांझी जैसे नाच कलाकार आज भी प्रतिबद्ध हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली के छात्र राकेश कुमार इस मरती हुई लोकनृत्य परंपरा को बचाने के लिए अग्रिम पंक्ति में खड़े होते हुए दिखते हैं। राकेश कुमार जैसे कलाकारों को इस परंपरा के पक्ष में खड़ा होता हुआ देखकर यह लगता है कि इस कला की धमक अब भी बची हुई है। आने वाली पीढ़ी इस लोक परंपरा से वंचित नहीं रहेगी। बिहार के दनियावाँ के छात्र ललित कुमार भी इसी परंपरा को आगे बढ़ाने एवं अपनी पहचान के लिए निरंतर संघर्षरत हैं। संस्कृति एवं तथ्य मंत्रालय, भारत सरकार की अधीनस्थ संस्था संगीत नाटक अकादमी ने प्रदर्शनकारी कलाओं के लिए वर्ष 2017 ई. के लिए लौंडा नाच कलाकार, भिखारी ठाकुर एवं बिदेसिया परंपरा के कलाकार रामचंद्र मांझी को वर्ष 2018 ई. में संगीत नाटक अकादमी अवार्ड देने की घोषणा की। राष्ट्रपति रामनाथ कोविद ने इस महान कलाकार को सम्मानित करके इस परंपरा से जुड़े कलाकारों को पुनर्जीवित किया है। रामचंद्र मांझी ग्यारह वर्ष की आयु से भिखारी ठाकुर के साथ नाच मण्डली में शामिल हो गए थे। एक मुलाक़ात में उन्होने खुद इस बात का जिक्र किया है। इन जैसे कलाकार राष्ट्रीय ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस नृत्य परंपरा को पहुँचा रहे हैं। इस कला को शीर्ष स्तर तक ले जाने के लिए दिन रात मेहनत कर रहे हैं। देश के कुछ हिस्सों में आज भी इस नृत्य परंपरा के कई कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। संगीत नाटक अकादमी सहित, भिखारी ठाकुर कि स्मृति पर आधारित कई संस्थाएं बिहार, दिल्ली एवं देश के अन्य हिस्सों में भिखारी ठाकुर की स्मृति में कई कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं। इन कार्यक्रमों से उन सभी कलाकारों को प्रोत्साहन मिलता है। आज वर्तमान समय में सरकार को और भी इस लोकनृत्य और हमारी संस्कृति के हिस्से, इस परंपरा को बचाने की दिशा में ध्यान देने की और भी आवश्यकता है। देश की कई सामाजिक संस्थाएं इस ख़त्म होती जन संस्कृति को बचाने और सहेजने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठा रही हैं। समाज में अपनी पहचान के लिए संघर्षरत अनाम, गुमनाम लौंडा नाच, छकरबाज़ नाच कलाकारों के लिए रामचंद्र मांझी, राकेश कुमार, ललित कुमार आदि आशा की एक किरण हैं। इन सबपर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को गर्व करना चाहिए।

भिखारी ठाकुर को भारत सरकार द्वारा पद्मश्री से सम्मानित किया गया था। नाटक (बिदेसिया, बेटी-बेचावा, बिधावा बिलाप आदि) सहित उनकी साहित्यिक कृतियों और गीतों की प्रशंसा की जाती है और आज भी गाए जाते हैं। 10 जुलाई 1971 को 84 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया।

संदर्भ :
1. साहित्य आज तक
2. तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम, फणीश्वरनाथ रेणु, हिन्दी समय
3. भिखारी ठाकुर, कविताकोश
4. अमर उजाला, काव्य डेस्क, 2018

✦✦✦

हिन्दी विभाग, नेहू, शिलांग- 793022, मेघालय मो-8617301842, ईमेल- sunilbhu50@gmail.com

जैन दर्शन में कर्म की अवधारणा

- डॉ. चन्दन सिंह
- डॉ. बच्चा बाबू

प्रश्न उठता है कि वे कौन से परमाणु हैं जो कर्म बन सकते हैं और उनकी विशेषता क्या है? जैन परम्परा में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पुद्गल की तेईस प्रकार की वर्गणाओं में एक कार्मण वर्गणा है। कार्मण वर्गणा आत्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्ति के निमित्त से आकृष्ट होकर आत्मा के साथ संपृक्त हो जाती है। आत्मा से सम्बद्ध इन्हीं वर्गणाओं को कर्म कहते हैं। ये कर्म शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष चार प्रकार के स्पर्श से युक्त होने के कारण चतु:स्पर्शी कहलाते हैं तथा यही चतु:स्पर्शी परमाणु कर्म बन सकते हैं। क्योकि ये सूक्ष्म चतु:स्पर्शी परमाणु ही आत्मा की शक्ति को आवृत्त कर सकते हैं, स्थूल परमाणु नहीं।

प्रस्तावना

भारतीय चिन्तन परम्परा में कर्मवाद अत्यंत महत्वपूर्ण विषय के रूप में स्वीकार किया जाता है और इसी कारण प्राय: सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने इस पर चिन्तन किया है। चार्वाक दर्शन को छोडकर सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में इसकी सत्ता को स्वीकार किया गया है। व्यक्ति जो कुछ भी आचरण करता है, उस आचरण का मूल स्रोत क्या है? संसार के प्रत्येक प्राणी के आचरण में विभिन्नता एवं विचित्रता दिखायी दे रही है, उसका मूल कारण क्या हो सकता है? यह पार्थक्य और भेद क्यों? एकरूपता क्यो नही? इसका क्या कारण है? इस कारण की तह में जाने का सभी ने अपने-अपने दृष्टिकोण से चिन्तन किया है। चिन्तन के फलस्वरूप किसी ने अविद्या के रुप में समाधान स्वीकार किया तो किसी ने अदृष्ट कर्माश्रय और वासना में जगत् की विचित्रता का कारण खोजा। किन्तु जैन दर्शन इसका कारण कर्म को मानता है जो अत्यंत विलक्षण है, क्योंकि जहाँ अन्य दर्शन संस्कार या भावना के रूप में कर्म की सत्ता स्वीकार करते हैं वही जैन दर्शन कर्म शब्द की सर्वथा भौतिक व्याख्या प्रस्तुत करता है, वह कर्म को पौद्गलिक मानता है। वह एकांतिक रूप से सब बातों के लिये कर्म की सत्ता को स्वीकार नही करता,अपितु काल, स्वभाव, पुरूषार्थ और नियति आदि तत्वों की सापेक्षता में विश्वास करता है और इसी कारण जैन दर्शन अपने आपको कर्म के हाथ की कठपुतली नहीं मानता अपितु पुरूषार्थ का दीप सदैव अपने हाथ में लेकर चलता है।

जैन दर्शन में कर्म का अर्थ

जैन मत में कर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुये आचारांग सूत्र में कहा गया है कि मन, वचन एवं शरीर की प्रवृत्ति कर्म है। इसे और स्पष्ट करते हुए आचारांग सूत्र में कहा गया है कि आत्मा की प्रवृति के द्वारा आकृष्ट एवं कर्मरूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों को कर्म कहते है- आत्मप्रवृच्याकृष्टास्तत्पायोग्य पुद्गला कर्म।

वस्तुत: शुद्ध आत्मा तो अपौद्गलिक है, इसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि कुछ भी नहीं होता, इसलिए इसका व्यपदेश– कथन भी नहीं होता, किंतु कर्म स्पर्शादि से युक्त होने के कारण कथनीय है। स्पर्श, रस आदि गुणों से युक्त होने के कारण कर्म पौद्गलिक हैं। किन्तु हमारी स्थूल दृष्टि के द्वारा ग्राह्य नहीं है क्योकि वे बहुत सुक्ष्म होते हैं। इसी कारण कर्म

को स्पष्ट करते हुये जैन मत में कहा गया है कि इन्द्रियों द्वारा अगोचर अतिसूक्ष्म परमाणुओं के समूह का नाम कर्म है।

कर्म का स्वरूप एवं प्रकार

प्रश्न उठता है कि वे कौन से परमाणु हैं जो कर्म बन सकते हैं और उनकी विशेषता क्या है? जैन परम्परा में इसे स्पष्टकरते हुए कहा गया है कि पुद्गल की तेईस प्रकार की वर्गणाओं में एक कार्मण वर्गणा है। कार्मण वर्गणा आत्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्ति के निमित्त से आकृष्ट होकर आत्मा के साथ संपृक्त हो जाती है। आत्मा से सम्बद्ध इन्हीं वर्गणाओं को कर्म कहते हैं। ये कर्म शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष चार प्रकार के स्पर्श से युक्त होने के कारण चतुःस्पर्शी कहलाते हैं तथा यही चतुःस्पर्शी परमाणु कर्म बन सकते हैं। क्योकि ये सूक्ष्म चतुःस्पर्शी परमाणु ही आत्मा की शक्ति को आवृत्त कर सकते हैं, स्थूल परमाणु नहीं। ये कर्म पुद्गल आत्मा की क्षमताओं पर आवरण डालते हैं, उन्हें अवरूद्ध करते हैं तथा आत्मा को परतंत्र बनाकर नाना दुःखों का पात्र बनाते हैं। होता यह है कि जिस समय कर्म पुद्गल आत्मा से संपृक्त होते हैं उसी समय कर्मपुद्गलों का इस आधार पर विभाजन शुरू हो जाता है कि कौन सा परमाणु किस स्वभाव का निर्माण करेगा। इस क्रम में सर्वप्रथम कर्म विभाग की व्यवस्था होती है तत्पश्चात स्वभाव निर्माण की व्यवस्था होती है। फिर क्रमश: कर्म की प्रकृति क्या होगी? उसका कार्य क्या होगा, वे कैसे कार्य करेंगे, फल देने की शक्ति क्या होगी, ये किस प्रकार के रस का संवेदन कराएँगे आदि व्यवस्थाएँ होती हैं।

अत: सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि कर्म के मूलतः कितने भेद हैं। जैन परम्परा में कर्म के मूलत: आठ भेद हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय,आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय।

उपर्युक्त आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय ये चार कर्म 'घातिया कर्म' कहलाते है। घातिया कर्म आत्मा के मौलिक गुणों का घात करते हैं, शेष चार कर्म अघातिया हैं। अघातिया कर्म आत्मगुणों का सीधे घात तो नही करते, फिर भी भव-भ्रमण कराने में उनका पूरा-पूरा हाथ रहता है।

1. ज्ञानावरणीय कर्म

ज्ञानावरणीय कर्म जीव के ज्ञान गुण कोआच्छादित/आवृत्त करता है, जिसके कारण उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाता। किन्तु इतना होने के बावजूद जिस प्रकार दिन में सघन घटाओं से आच्छादित रहने पर भी सूर्यप्रकाश का अभाव पूर्णरूपेण नहीं हो पाता, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का तीव्रतम उदय होने पर भी वह जीव की ज्ञानशक्ति को पूरी तरह से नष्ट/आवृत्त नहीं कर सकता, जिससे कि जीव सर्वथा ज्ञान शून्य होकर जडवत् हो जाये। चूकि ज्ञान पाँच प्रकार का होता है इसलिए ज्ञानावरण कर्म के भी पाँच भेद हैं- 1) मतिज्ञानावरण, 2) श्रुत-ज्ञानावरण, 3) अवधि-ज्ञानावरण, 4) मनःपर्यय-ज्ञानावरण, 5) केवल-ज्ञानावरण। प्रथम चारो कर्म क्रमशः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को आवृत्त तथा हीनाधिक करते हैं और पाँचवाँकेवलज्ञानावरण-कर्म केवल ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता।

2. दर्शनावरणीय कर्म

पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल उनके सामान्य धर्म का अवभास करना दर्शन है, दर्शनावरण कर्म उक्त दर्शन गुण को आवृत्त करता है। इसकी नौ उत्तर-प्रकृतियाँ हैं- 1) चक्षु-दर्शनावरण, 2) अचक्षु-दर्शनावरण, 3) अवधि-दर्शनावरण, 4) केवल-दर्शनावरण, 5) निद्रा, 6) निद्रा-निद्रा, 7) प्रचला, 8) प्रचला-प्रचला, 9) स्त्यान-गृद्दि। चक्षु-दर्शनावरणीय कर्म से नेत्रेन्द्रिय की दर्शनशक्ति क्षीण होती है। अचक्षु-दर्शनावरणीय कर्म से शेष इन्द्रियों की शक्ति मन्द पड जाती है। अवधि-दर्शनावरण कर्म अवधि-दर्शन को रोकता है तथा केवल–दर्शनावरण कर्म सर्वद्रव्योंऔर पर्यायों के युगपत् होने वाले सामान्य अवबोध को व्यक्त नहीं होने देता। आगे के पाँच कर्म क्रमश: हल्की निद्रा, गहरी निद्रा, चलते-फिरते समय की निद्रा, चलते-फिरते समय की गाढ़तर निद्रा तथा निद्राचार से संबंधित हैं।

3. मोहनीय कर्म

मोहनीय कर्म आत्मा को मोहित करता है, फलस्वरूप जीव मोहग्रस्त होकर संसार में भटकता है। यह कर्म संसार का मूल है। अन्य सभी कर्म इसके अधीन हैं। इसके मुख्य भेद दो हैं- 1) दर्शन मोहनीय, 2) चारित्र मोहनीय, जो क्रमशः दर्शन तथा चारित्र में दूषण उत्पन्न करते हैं। इनमे प्रथम के तीन व द्वितीय के पच्चीस उपभेद है, इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल अट्ठाईस भेद हैं।

4. वेदनीय कर्म

जो कर्म जीव को सुख-दुःख का अनुभव कराता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद है-1) साता वेदनीय कर्म, 2) असाता

वेदनीय कर्म। जिस कर्म के उदय से प्राणी को अनुकूल विषयों के संयोग से सुख का अनुभव होता है, वह साता वेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों का संयोग होने पर दुःख का संवेदन होता हे, वह असाता वेदनीय कर्म हैं।

5. आयु कर्म

जीव को किसी विवक्षित शरीर में टिके रहने की अवधि का नाम आयु है। इस आयु का निमित्तभूत कर्मआयु कर्म कहलाता है। इस कर्म के अस्तित्व में रहने से प्राणी जीवित रहता है तथा इसके क्षय हो जाने पर मृत्यु को प्राप्त होता है। आयु कर्म के चार भेद है और ये जीव की चार गतियों- देव, नरक, मनुष्य तथा तिर्यंच्में आयु का निर्धारण करते हैं। इसलिये इन्हे देवायु, नरकायु, मनुष्यायु तथा तिर्यंचायु कहते हैं।

6. नामकर्म

"नाना मिनोतीति नाम" जो जीव के चित्र-विचित्र रूप बनाता है वह नामकर्म है। जीव की विविध आकृतियों एवं शरीरों का निर्माण इसी नाम-कर्म की कृति है। नाम-कर्म के 103 भेद है। इन्हें अधिकतर निर्धारित क्रम में चार वर्गों में बाँटा जा सकता है। पिंड प्रकृति जिसके 75भेद है, प्रत्येय प्रकृति जिसके 8 भेद हैं, त्रस दशकजिसके दस भेद हैं और स्थावर दशक जिसके दस भेद हैं, इन चारो वर्गों के सामान्य उदाहरण हम इस प्रकार रख सकते हैं- मजबूत जोड़, शरीर का संतुलन तथा सुगठित चेहरा- ये प्रथम वर्ग के कुछ उदाहरण हैं। इसी प्रकार श्रेष्ठता की भावना, धर्म स्थापना की क्षमता आदि दूसरे वर्ग के उदाहरण है। खूबसूरत शरीर, मधुर वाणी तथा सहानुभूति का भाव-ये सब तीसरे प्रकार के कर्म के कारण हैं। भद्दा चेहरा, कटु स्वभाव तथा कर्कश वाणी- ये सब चौथे प्रकार के कर्म के कारण हैं।

7. गोत्र कर्म

गोत्र कर्म उस कुल से सम्बन्धित है जिसमें व्यक्ति का जन्म होता है। इसके दो भेद हैं- जिस कुल में लोकपूजित आचरण की परम्परा है उसे उच्च गोत्र कहते हैं और जिसमें लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे नीच गोत्र कहा गया है।

8. अन्तराय कर्म

जो कर्म मनुष्य के स्वकीय पराक्रम के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं, उन्हें अन्तराय कर्म कहते हैं। अन्तराय कर्म के कारण आत्मशक्ति में अवरोध उत्पन्न होता है। अनुकूल साधनों और आंतरिक इच्छा के होने पर भी जीव इस कर्म के कारण अपनी मनोभावना को पूर्ण नहीं कर पाता। इसके पाँच भेद हैं- 1) दानान्तराय, 2)लाभान्तराय, 3) भोगान्तराय, 4) उपभोगान्तराय, 5) वीर्यान्तराय। ये क्रमशः दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं उत्साह की परिस्थिति तथा इच्छाशक्ति के विकास में बाधक होते हैं।

कर्म :कर्मफल ::कर्ता:भोक्ता

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कर्म का कर्ता कौन है और कर्म का भोक्ता कौन है? जैन परम्परा में कर्म का कर्ता कर्मयुक्त आत्मा को माना गया है। आचारांग सूत्र में कहा गया है- तं चेव तं सल्लमाहट्टु। अर्थात् इस शल्य का सृजन तूने ही किया है। यहाँ शल्य का अर्थ कर्म है। पुनः जैन परंपरा में कर्म का भोक्ता भी कर्मयुक्त आत्मा को ही माना गया है। आचारांग सूत्र में सूत्रकार ने कहा है कि अपना किया हुआ कर्म अपने को ही भुगतना पड़ता है, "जो कर्म तुमने किया हैवह तुम्हें ही भोगना पड़ेगा"। सारांश यह है कि कर्मों का कर्ता ही भोक्ता है।

किन्तु यह प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह जाता है कि आत्मा का कर्म से बन्धन होता कैसे है? जैन परंपरा में इसके कई कारण दिए गए हैं जिनमे एक महत्वपूर्ण कारण है अज्ञान। अज्ञानी जीव अपने ही कर्मों के द्वारा विविध रूपों की रचना करते हैं, तथा विभिन्न योनियों में भ्रमण करते हैं। यद्यपि जीव जन्म-मरण की परंपरा से मुक्त हो सकते हैं किन्तु जब तक अज्ञान का आवरण रहता है तब तक आत्मा की अनावृत्त अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती।

कर्मबंध के अनुरूप उसका फल भी प्राप्त होता है। कर्मों की सघन या विरल जैसी स्थिति, प्रकृति, अनुभाग, और प्रदेश बंध होता है वैसा ही फल या परिणाम हो जाता है। कर्म के कारण व्यक्ति प्रज्ञाचक्षु, बहरा, कुबडा व इन्द्रियविकलांग होता है, अनेक योनियों में भ्रमण करता है तथा अनेक बार उच्च व निम्न गोत्र का अनुभव करता है। कर्म के परिणाम को न जानने वाला हत या उपहत होता है तथा बार-बारजन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है। कृतकर्म का फल भोगना ही पड़ता है। अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसको उसका तदनुरूप फल मिलता है। इस कथन का सापेक्ष दृष्टि सेअध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जीव उत्थान, बल, वीर्य, पुरस्कार और पराक्रम के द्वारा अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा के प्रायोग्य कर्मों की उदीरणा करता है। यहाँ 'उदीरण प्रयोग्य' शब्द महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है कि जिन कर्मों की भविष्य में उदीरणा होनेवाली है उनको

प्रयत्न विशेष के द्वारा पहले ही उदय में ले लिया जाता है। स्पष्ट है कि यथास्थिति कर्मफल सहज व प्रयत्न जनित दोनों प्रकार का होता हे। जहाँ अन्य दार्शनिक कर्म फल ईश्वर के अधीन मानते हैं, वहीं जैन मत स्पष्ट रूप से यह मत रखता है कि अपना किया हुआ कर्म अपने को ही भुगतना पडता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया हैकि- किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। कर्मों की इस फलदान शक्ति को अनुभाग कहते है। सभी कर्मों का फलदान एक जैसा नहीं होता। कर्मों का अनुभाग कषायों की तीव्रता व मन्दता पर निर्भर करता है। कषायों की तीव्रता होने पर अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता हैं, शुभ कर्मों का मन्द तथा कषायों की मन्दता होने पर शुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है तथा अशुभ कर्मों का मन्द। कषायों की मन्दता से भाव शुद्धि होती है, इसके लिए चिन्तन करना आवश्यक है। कल्मं च पडिलेहाए। कर्म का बार-बार अनुचिन्तन करने से संस्कारों की पुष्टि होती है। अशुभ संस्कार नष्ट होते हैं। उसके स्थान पर शुभ अध्यवसाय शुभ चिन्तन की पुष्टि होती है। किन्तु जब तक शरीर है तब तक कर्म का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है, अतः तत्वदर्शी पुरूष कर्म का परिभोग भिन्न करें, संयम पूर्वक परिभोग करने पर कर्म अकर्म बनजाता है।

अकर्म की साधना कर्म मुक्ति की साधना है। अकर्मा मनुष्य प्रवृत्ति के चक्र से मुक्त होकर जानता, देखता है। अकर्म की साधना वस्तुत: राग-द्वेष रहित क्षण की अनुभूति की साधना है। कषाय का निरोध करना कर्म मुक्ति का महत्वपूर्ण सूत्र है। जो पुरूष कर्म के आदान कषाय को रोकता है, वही अपने किए हुए कर्म का भेदन कर सकता है। इसीकारण कषाय मुक्त जीव का बंधन नहीं होता। निष्कर्मदर्शी राग-द्वेष को छिन्न कर कर्म भेद से मुक्त हो जाता है। ज्ञानी मनुष्य कर्म से मुक्त हो जाता है। अब वह अनासक्त भाव से कर्म करता है।

कर्मों का मूलत: विनाश करने के लिए अग्र और मूल का विवेक करना जरूरी है। उत्तराध्ययन सूत्र में महावीर की उभय दृष्टि का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने राग और द्वेष इन दोनों को कर्मों का मूल कहा है। दशाश्रुत स्कंध में मोहनीय कर्म को मूल माना गया है, शेष कर्मों को अग्र। राग और द्वेष को जानना है, साथ साथ अन्य कर्मों को भी जानना है। ज्ञान की यह प्रक्रिया ही उभयस्पर्शी दृष्टि है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में कर्मवाद का जो निरूपण प्राप्त होता है उससे स्पष्ट होता है कि प्राणी क्रमश: विकास करता हुआ अंतिम शिखर तक पहुँच जाता है। वहाँ पहुँचने के पश्चात् आत्मा के समस्त मल समाप्त हो जाते हैं। आत्मा कर्ममुक्त होकर परमात्मा बन जाती है। पुरूषार्थ द्वारा कर्म की अवस्थाओं में परितर्वन हो सकता है। परिणामों की उच्चता से कर्मों को समय से पूर्व ही उदय में लाया जा सकता है। कर्मों की स्थिति व अनुभाग में परिवर्तन हो सकता है। संक्रमण के द्वारा कर्मों की प्रकृति आदि का परस्पर परिवर्तन हो सकता है। पाप प्रकृति को सद्आचरण के द्वारा पुण्य में बदला जा सकता है। अत: स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने विभिन्न कर्मों के लिए स्वयं जिम्मेदार है, कर्म उस पर वाह्यारोपित नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है।

वर्तमान समय में उपर्युक्त जैन मत अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत हो रहा है, क्योंकि आज प्रत्येक व्यक्ति अपनी असफलता के लिए समाज व सामाजिक व्यवस्था को दोषी ठहराने का प्रयास कर रहा है, जबकि अपनी असफलता के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है, तथा इसी कारण उसका जीवन अवसाद ग्रस्त होता जा रहा है, अत: जैनदर्शन का कर्मवाद समाज में वास्तविक सुख व आनन्द की अनुभूति के लिए आज अत्यंत प्रासंगिक हो गया है। क्योंकि यदि व्यक्ति इसे अपने जीवन में अपना लेता है तो वह पुरूषार्थ की सहायता सेअपने भविष्य व वर्तमान दोनों को सवाँर सकता है तब उसे अपने जीवन मे परम् आनन्द की प्राप्ति होगी जो उसके जीवन का लक्ष्य भी है।

संदर्भ ग्रंथ

1. जैन परम्परा का इतिहास - आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक - समण संस्कृति संकाय, जैन विश्व भारती लाडनूं (राजस्थान), बारहवां संस्करण - 2002
2. आचारांग और महावीर - डा. साध्वी शुभ्रयशा, प्रकाशक - जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं (राजस्थान), प्रथम संस्करण –2001
3. जैन तत्वविद्या - मुनि प्रमाणसागर, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पँचवा संस्करण - 2001
4. आचारांग सूत्र : एक अध्ययन - डा. परमेष्ठीदास जैन, प्रकाशक – पार्श्वनाथ विद्याश्रम रोड, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 1987
5. जैन धर्म एवं दर्शन - महेशचंद्र जी श्रीवास्तव, प्रकाशक – मोतीलाल नेहरू नगर, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - 1991
6. जैन दर्शन की रूपरेखा - एस. गोपालन, अनु.गुणाकर मुले, प्रकाशक - वाइली इस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण - 1973

✦✦✦

1. वरिष्ठ रिसोर्स पर्सन, भारतवाणी परियोजना, भारतीय भाषा संस्थान, मानसगंगोत्री, हुणसुर मार्ग, मैसूर-570006 (कर्नाटक), ई-मेल :- chandan2010singh@gmail.com

2. विभागाध्यक्ष, जनसंचार एवं नव मीडिया विभाग, जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय,जम्मू (UT), Mail: bachha.mcnm@cujammu.ac.in

हिंदी फिल्मी गीतों की भाषा

- डॉ. रमेश कुमार बर्णवाल

देशभक्ति पर आधारित फिल्मी गीतों में भी यह खासियत उभरकर आती है और इन गीतों की लोकप्रियता का कोई सानी नहीं है। देशभक्ति ही नहीं, हिंदी प्रदेशों में मनाए जाने वाले अधिकतर पर्व-त्यौहारों और अन्य शुभ अवसरों को फिल्मी गीतों में आवाज मिली है। रक्षाबंधन हो, होली या दीवाली हो, फिल्मी गीतों के बिना बात नहीं बनती। शादी, विदाई, जन्मदिन जैसे अवसरों पर आधारित भी ढेरों गीत हैं जो इन अवसरों पर बजाए जाते हैं। बेटी की विदाई के लिए 'बाबुल की दुआएं लेती जा' तो जैसे एक अनिवार्य गीत है- बाबुल की दुआएं लेती जा, जा तुझको सुखी संसार मिले। देखने वाली बात है कि हिन्दू परंपरा में बेटी को आशीष देते हैं, लेकिन इस गीत में 'दुआएं' शब्द बड़ी सहजता से अपना लिया गया है और वह भी 'सुखी संसार' पदावली के साथ।

गीतकार शैलेन्द्र ने जब 'गाइड' फिल्म के एक गीत में लिखा था, 'कहते हैं ज्ञानी दुनिया है फानी', तो वे एक ऐसी हिन्दी पेश कर रहे थे जो न संस्कृत पर अड़ी थी और न अरबी-फारसी में गड़ी थी। इसे कोई चाहे तो खिचड़ी कह सकता है, कोई भाषिक गुलदस्ता। लेकिन यह भाषा पूरे उत्तर भारत में सदियों की सामासिक प्रक्रिया में बनी थी।

हम जानते हैं कि सरकारी कामकाज और शिक्षण संस्थानों में प्रयुक्त होने वाली भाषा और जनसंचार की भाषा एक नहीं होती। न ही उनके दायरे एक होते हैं। जनसंचार माध्यमों का दायरा लोगों की रोजमर्रा की बोलचाल और आम जीवन तक है। इसलिए उनकी भाषा का प्रभाव अधिक दूरगामी होता है। लोगों की जुबान पर तुरंत चढ़ने वाले फिल्मी गीतों की भाषा को हम इसी रूप में देख सकते हैं।

मात्र बोले-गाए जाने वाले स्वरूप के कारण इन गीतों के साथ लिपि का कोई झगड़ा नहीं है। कोई चाहे तो देवनागरी या फारसी में लिखे, कोई चाहे बांग्ला, उड़िया या गुजराती में लिखे, चाहे रोमन में ही लिखे। विभिन्न प्रदेशों के अहिन्दीभाषी ऑर्केस्ट्रा वाले ऐसा करते रहे हैं और आजकल फिल्मी गीतों पर आधारित वेबसाइटों में ये गीत ज्यादातर रोमन लिपि में ही पढ़े जाते हैं। लेकिन इससे भाषा के स्वरूप में कोई बदलाव नहीं आता।

विशेष बात यह रही है कि हिंदी फिल्म जगत में शुरू से ही उर्दू के लोकप्रिय शायरों ने शिरकत की है। लेकिन फिल्मी गीतों की अपनी विशेष प्रकृति होती है। इसमें मुशायरों में दाद पाने वाली ग़ज़लों की नहीं, बल्कि आसान नज़्मों की जरूरत होती है जिन्हें साहित्यिक उर्दू न जानने वाले आम लोग भी समझ सकें। यही नहीं, अशिक्षित और अनपढ़ लोगों की भावनाओं और मानस से भी जो जुड़ सकें। हम पाते हैं कि ये शायर बहुत अच्छे नगमानिगार भी साबित हुए और उन्होंने हिन्दी-उर्दू का मेल कराने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। उन्होंने जहां एक तरफ उर्दू में आम तौर पर प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों से हिंदी गीतों को समृद्ध किया और उनका चलन बनाए रखा, वहीं हिंदीभाषी जनता में प्रचलित तत्सम शब्दों का प्रयोग करने से भी न सिर्फ परहेज नहीं किया, बल्कि बड़ी स्वाभाविकता और सहजता से उनका प्रयोग किया। यही नहीं, पूरबिया शब्दों ने भी उनके गीतों में बड़ी रौनक पाई। ।

फिल्मी गीतकारों की परंपरा में गीतकारों के दो वर्ग किए जा सकते हैं। एक, ऐसे गीतकार जिन्होंने मुख्यतः फिल्मों के लिए ही लिखा, और फिल्मी गीतों से अलग जिनकी साहित्यकार के रूप में विशेष पहचान नहीं बनी। शैलेन्द्र जैसे प्रगतिशील गीतकार से लेकर जिनके निधन पर फणीश्वरनाथ रेणु ने एक मार्मिक लेख लिखा, राजेन्द्र कृष्ण, एस.एच. बिहारी, भरत व्यास, आनंद बक्षी, संतोष आनंद, रवीन्द्र जैन, योगेश, इंदीवर आदि इसी वर्ग में रखे जा सकते हैं। और दूसरा वर्ग ऐसे गीतकारों का है जिनकी फिल्मों से अलग भी साहित्यकार के रूप में पहचान रही है। नीरज और गुलजार ऐसे ही गीतकार कहे जा सकते हैं। पंजाब की पृष्ठभूमि से आने वाले गुलजार और आनंद बक्षी जैसे गीतकार स्वाभाविक रूप से उर्दू का असर अपने साथ लेकर आते हैं।

गुलजार ने फिल्मों से अलग भी काफी शायरी की है इसलिए आश्चर्य नहीं कि उनके फिल्मी गीतों में शायरी और उर्दू जुबान की परंपरा का खासा प्रभाव देखने को मिलता है।- 'दिल ढूंढता है फिर वही फुरसत के रात दिन/

बैठे रहे तसव्वुरे जानां किए हुए' (फिल्म 'मौसम'), 'रुके रुके से कदम रुक के बार बार चले', 'तुमसे नाराज नहीं जिंदगी हैरान हूं मैं', 'हुजूर इस कदर भी ना इतरा के चलिए', 'मेरा कुछ सामान तुम्हारे पास पड़ा है' जैसे अनेक गीत। अपने गीतों में वे प्रकृति से भी बहुत सारे शब्द लेते चलते हैं। इसके अलावा वे अलग-अलग प्रदेशों की जुबां को भी बहुत बारीकी से पकड़ते हैं। खासकर राजस्थान, पंजाब और पश्चिमी तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ स्थानीय शब्दों के प्रयोग से गीतों में लोकरंग भर देते हैं।

दूसरी तरफ आनंद बक्षी ठेठ बातचीत के अंदाज को ज्यादा पकड़ते हैं- 'अच्छा तो हम चलते हैं, फिर कब मिलोगे' (फिल्म 'आन मिलो सजना'), 'पूछे जो कोई मुझसे बहार कैसी होती है, नाम तेरा लेके कह दूं के यार ऐसी होती है, पूछे जो कोई घटा घनघोर कैसी होती है, तेरे जैसी होती है ओर कैसी होती है' (फिल्म 'आप आए बहार आई'), 'कुछ तो लोग कहेंगे लोगों का काम है कहना' (फिल्म 'अमर प्रेम'), 'मेरे सपनों की रानी कब आएगी तू, जाए रुत मस्तानी कब आएगी तू' (फिल्म 'आराधना'), 'क्या यही प्यार है, हां यही प्यार है' (फिल्म 'रॉकी')। बातचीत की इस शैली में उर्दू शायरी का प्रभाव नहीं मिलता। हां, उर्दू के शब्द चले आते हैं। जिंदगानी, मस्तानी आदि। लेकिन रुत, घटा, घनघोर जैसे हिंदी के तत्सम, तद्भव भी साथ-साथ चलते रहते हैं। आनंद बक्षी के जिन गीतों में थोड़ी साहित्यिकता आई है वहां भी यही बात देख सकते हैं। फिल्म 'जीने की राह' के एक लोकप्रिय गीत की ये पंक्तियां देखें-

गुनगुनाए ऐसे जैसे बजते हों घुंघरू कहीं पे
आके पर्वतों से जैसे गिरता हो झरना जमीं पे
झरनों की मौज है वो मौजों की रवानी है मेरी महबूबा
इस घटा को मैं तो उसकी आंखों का काजल कहूंगा
इस हवा को मैं तो उसका लहराता आंचल कहूंगा
कलियों का बचपन है फूलों की जवानी है मेरी महबूबा।

उत्तर प्रदेश, बिहार जैसे हिंदी प्रदेशों से आने वाले गैर मुस्लिम गीतकारों ने भी उर्दू को सहज भाव से अपनाया। कुछ गीतकारों की तो उर्दू शायरी पर अच्छी पकड़ रही और अपने गीतों में भी उन्होंने इसका इस्तेमाल किया। नीरज ऐसे ही गीतकार हैं। 'कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे' या 'खिलते हैं गुल यहां खिलके बिखरने को, मिलते हैं दिल यहां मिलके बिछड़ने को' उनके ऐसे ही गीत हैं जिनमें उनका साहित्यकार रूप भी सामने आता है। ऐसा नहीं है कि इन गीतों के फारसी शब्द फिल्म की पृष्ठभूमि की अनिवार्यता के कारण आए हैं, यानी फिल्म में मुस्लिम परिवेश या मुस्लिम पात्र हों या पात्र उर्दू बोलते हों। ऐसा बिलकुल नहीं है।

यहां दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। एक, कि ये अरबी-फारसी शब्द इन गीतकारों की शैली का हिस्सा हैं और उन्हें ये शब्द जंचते रहे हैं। दूसरी, कि हिंदी फिल्मी गीतों की अपनी प्रकृति है। इसमें शुद्ध या विशुद्ध जैसा कुछ है ही नहीं। जो शब्द फिल्म की सिचुएशन को रागात्मक रूप में व्यक्त कर रहे हों, उन्हें बिना उनकी जात और मजहब परखे इस्तेमाल कर लिया गया। थोड़ा-बहुत चरित्रों की अनुरूपता का ध्यान रखा गया कि फलां शब्द फलां किस्म के पात्र के हिसाब से अटपटे न लगें। हालांकि आश्चर्य होता है कि इस चीज को लेकर भी ज्यादा सिरदर्द नहीं पाला गया है और शब्द गीतकार की लेखन-शैली की सहजता से ज्यादा निकलकर आए हैं। संगीत की मधुरता और गायकी तथा दृश्य के प्रभाव में बंधा श्रोता-दर्शक सोच ही नहीं पाता कि ये शब्द फलां पात्र बोल भी सकते हैं या नहीं। यही कारण है कि हिंदी फिल्मी गीतों की एक अपनी अनूठी भाषा विकसित हुई है जिसे 'हिन्दुस्तानी' कहकर हम इसके महत्त्व को पहचान सकते हैं।

'हिन्दुस्तानी' के इस स्वरूप को हम कुछ और उदाहरणों के माध्यम से देख सकते हैं। इसमें हम कई बार यह भी देखेंगे कि यह भाषा दो संस्कृतियों का और दो मजहबों का भी मेल कराती है। शुरुआत बेहद मर्मस्पर्शी गीत लिखने वाले विचारशील गीतकार शैलेन्द्र, जिनका पूरा नाम शंकर शैलेन्द्र था, के एक गीत से करते हैं। 'गाइड' फिल्म का यह गीत यों है-

यहां कौन है तेरा मुसाफिर जाएगा कहां
दम ले ले घड़ी भर ये छइयां पाएगा कहां
कहते हैं ज्ञानी दुनिया है फानी...

संस्कृत 'ज्ञानी' के साथ अरबी 'फानी' हमजोली बनकर आया है। नश्वर के लिए 'फानी' शब्द का इस्तेमाल किया गया है। कमाल यह है कि 'ज्ञानी' के साथ 'फानी' जरा भी अटपटा नहीं लगता और गाते समय हम बड़ी सहजता से इसे दुहराते हैं। 'फानी' शब्द अरब की और इस्लाम की एक पूरी संस्कृति लेकर आता है जो हिन्दू संस्कृति, जिसमें नश्वर ही नहीं बल्कि शंकराचार्य के वेदांत के अनुसार संसार को माया, आभासी सत्य या मिथ्या बताया गया है, उससे सहज ही जुड़ जाता है। सांस्कृतिक मिलन का यह स्वर भाषा के हिन्दुस्तानी स्वरूप के कारण प्रायः सभी गीतकारों के यहां दिखाई पड़ जाता है। फिल्म 'उपकार' का यह गीत लें-

कसमें वादे प्यार वफा सब बातें हैं बातों का क्या
कोई किसी का नहीं यहां सब नाते हैं नातों का क्या
होगा मसीहा सामने तेरे फिर भी न तू बच पाएगा
तेरा अपना खून ही आखिर तुमको आग लगाएगा
आसमान में उड़ने वाले मिट्टी में मिल जाएगा...

मृत्यु के बाद मुखाग्नि हिन्दू संस्कृति में दी जाती है। मगर हम देख सकते हैं कि इंदीवर के लिखे इस गीत में अरबी का 'मसीहा' बड़े प्रेम से चलकर आ जाता है। गीतों के इस बेहद मैदान में किसी भी संस्कृति या मजहब का प्रवेश वर्जित नहीं है। कसमें, वादे, वफा अरबी और खून, आसमान फारसी शब्द हैं, जो हिंदुस्तानी जनता की बोलचाल में शामिल हैं। नतीजतन गीत कर्णप्रिय ही नहीं मनप्रिय भी बन जाता है।

देशभक्ति पर आधारित फिल्मी गीतों में भी यह खासियत उभरकर आती है और इन गीतों की लोकप्रियता का कोई सानी नहीं है। देशभक्ति ही नहीं, हिंदी प्रदेशों में मनाए जाने वाले अधिकतर पर्व-त्यौहारों और अन्य शुभ अवसरों को फिल्मी गीतों में आवाज मिली है। रक्षाबंधन हो, होली या दीवाली हो, फिल्मी गीतों के बिना बात नहीं बनती। शादी, विदाई, जन्मदिन जैसे अवसरों पर आधारित भी ढेरों गीत हैं जो इन अवसरों पर बजाए जाते हैं। बेटी की विदाई के लिए 'बाबुल की दुआएं लेती जा' तो जैसे एक अनिवार्य गीत है- बाबुल की दुआएं लेती जा, जा तुझको सुखी संसार मिले। देखने वाली बात है कि हिन्दू परंपरा में बेटी को आशीष देते हैं, लेकिन इस गीत में 'दुआएं' शब्द बड़ी सहजता से अपना लिया गया है और वह भी 'सुखी संसार' पदावली के साथ।

ब्रजभाषा पर यह आरोप लगा था कि वह शृंगार रस के ज्यादा अनुकूल है और आधुनिक युग की समस्याओं को व्यक्त करने में वह समर्थ नहीं है। इस आरोप में सचाई हो न हो, लेकिन हिंदी फिल्मी गीतों की आधार भाषा 'हिन्दुस्तानी' पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसके कई गीतों में आधुनिक युग की विडंबनाएं, संघर्ष, क्षणवादी दर्शन, सामूहिक और वैयक्तिक दोनों ही भावनाएं समर्थ ढंग से व्यक्त हुई हैं। गुरुदत्त की 'प्यासा' के एक गीत में एक कलाकार या शायर की विडंबना और उसकी प्रतिक्रिया इन शब्दों में व्यक्त हुई है-

ये महलों ये तख्तों ये ताजों की दुनिया...
ये दुनिया अगर मिल भी जाए तो क्या है...

'नया दौर' में सामूहिकता की चेतना को अभिव्यक्ति मिली-

साथी हाथ बढ़ाना
एक अकेला थक जाएगा
मिलकर बोझ उठाना

हिंदी फिल्मी गीतों में नन्हें मुन्ने बच्चों की मुट्ठी में कसी उनकी तकदीर को भी पहचाना गया है-

मुट्ठी में है तकदीर हमारी।

पचास साल बाद 'नाच नचा देंगे' के आत्मविश्वास के साथ इसकी रोचक परिणति हुई- 'छोटा बच्चा जानके हमको ना समझाना रे... ना धिन धिन ना ना धिन धिन ना नाच नचा देंगे'

यह अच्छी बात है कि गली, कस्बों, रोजगार के क्षेत्रों आदि से लेकर सांस्कृतिक और काव्यात्मक स्रोतों से भी यह भाषा शब्द चुनती है। शर्त यही है कि वे शब्द एकदम अपरिचित न हों और संप्रेषण की दृष्टि से प्रभावी हों।

फिल्मी गीतों में शब्द दो तरह से आते हैं। एक तो गीत के विषय का अंग बनकर और दूसरा, काव्यात्मक उपकरण मसलन उपमा आदि बनकर। यहां हम कुछ ऐसे शब्दों की सूची जरूर देना चाहेंगे जिनके बारे में हम सोच भी नहीं पाते कि फिल्मी गीतों में इनका भी इस्तेमाल होता होगा क्या! मसलन नगर, धर्मशाला, शिवाला, दफ्तर, ग्रेविटी, क्लेरिटी, लाइब्रेरी, हॉर्न, भटियारा, घसियारा, निर्धन, धनवान, शीतल, निर्मल, गरीब, खजाना, कागज, कविराज, स्वर, अक्षर, डफली, सभ्यता, मर्यादा, नौकर, मालिक, रौनक, रिश्वत, व्यापार, तिजारत, महाराज, बादशाह, जुल्म, जालिम, अपराध, अधिकार, बेईमान, धर्म, मजहब, संन्यासी, ब्रह्मचारी, जादू टोना, नादान, भरोसा, यौवन, स्वर्ग, जन्नत, चितवन, हृदय, मरम, खटियन, बबुआ, बलिहारी, पग, लक्ष्मण की रेखा, टीस, खलबली, रूस का जार, तब्दीली, छल, शीशी, कठिन इत्यादि-इत्यादि।

फिल्मी गीतों में ये शब्द जैसा कि हम कह चुके हैं, कभी विषय का अंग बनकर आते हैं तो कभी काव्यात्मक उपकरण बनकर। 1979 में आई फिल्म 'सरगम' का ये गीत देखें-

डफली वाले डफली बजा
मेरे घुंघरू बुलाते हैं तू आ
मैं नाचूं तू नचा...

इस गीत में डफली, घुंघरू, नाचूं, नचा जैसे शब्द चरित्रों की खासियत बनकर आते हैं और प्रेम के प्रसंग को व्यक्त कर रहे हैं। फिल्म का नायक डफली बजाने वाला कलाकार है जबकि मूक नायिका एक नृत्यांगना है। दोनों स्टेज पर कार्यक्रम कर थोड़ा-बहुत कमाते हैं। नायिका मन ही मन नायक से प्रेम करने लगती है और कल्पना में यह गीत गाती दिखाई गई है।

विषय के अनिवार्य अंग के रूप में न होकर सिर्फ काव्यात्मक उपकरण के रूप में शब्द प्रयोग के उदाहरणों की कोई सीमा नहीं है क्योंकि ये गीत साहित्य का ही एक रूप होने के कारण काव्यात्मक उपकरणों पर बहुत हद तक निर्भर होते ही हैं। काव्यात्मक उपकरण के रूप में शब्द-प्रयोग का एक उदाहरण फिल्म 'सरफरोश' के गीत 'इस दीवाने लड़के को कोई समझाए' में देख सकते हैं। इस गीत के बीच में आए एक शेर में धर्मशाला, शिवाला, मंदिर जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। गीत में नायक कहता है- 'ये मंदिर नहीं है शिवाला नहीं है, ये दिल है दिल धर्मशाला नहीं है।' 'मंदिर' और 'शिवाला' जैसे शब्द यहां विषय की अनिवार्यता के कारण नहीं आए हैं बल्कि कहने की एक युक्ति के साधन बनकर आए हैं। यहां एक महत्त्वपूर्ण चीज पहचानने की जरूरत है। यह है लोकप्रचलित शब्दों से गीतकारों का लगाव। 'शिवाला' शब्द हिंदी प्रदेशों में धर्म ही नहीं बल्कि पूरी लोकसंस्कृति से जुड़ा एक शब्द है।

फिल्म 'रंग दे बसंती' का एक चर्चित गीत है -'मस्ती की पाठशाला'। अपने आप में मस्ती और पाठशाला नए शब्द नहीं हैं लेकिन गीत में शब्द पुराने होकर भी नए और अनोखे अंदाज में आए हैं और पाठशाला का एक नया ही अर्थ सृजित कर रहे हैं। इस गीत में अंग्रेजी शब्दों का भी सार्थक प्रयोग हुआ है। 'ये सूरत तेरी मेरी मोबाइल लाइब्रेरी'। यानी आपकी हमारी सूरत चलता-फिरता पुस्तकालय है जिसमें हम जीवन का पूरा ज्ञान पढ़ सकते हैं। इस गीत में ग्रेविटी और क्लेरिटी जैसे शब्द आए हैं। ग्रेविटी शब्द बताने की जरूरत नहीं कि विज्ञान से आया है।

टल्ली होकर गिरने से समझी हमने ग्रेविटी
इश्क का प्रैक्टिकल किया तब आई क्लेरिटी।

फिल्मी गीतों में एक तरफ जहां कई बार भौंडापन दिखता है वहीं साथ-साथ संजीदगी को भी महत्त्व मिलता रहा है। हिन्दी फिल्मों के अनेक गीत इसके गवाह हैं। ऐसे गीतों की परंपरा को आज के गीतकारों में, विशेष रूप से इरशाद कामिल, मनोज मुंतशिर आदि के गीतों में देखा जा सकता है। जावेद अख्तर की एक पंक्ति है- 'पंछी नदिया पवन के झोंके कोई सरहद न इन्हें रोके।' फिल्मी गीतों की भाषा पर भी यह बात हूबहू लागू होती है। वह भी किसी सरहद में नहीं बंधती। शैलेंद्र, नीरज, जावेद अख्तर हों या गुलजार, उनकी पीढ़ी के गीतकार हों या बाद की पीढ़ी के, इनके गीत हमें इसकी याद दिलाते रहेंगे। एक फिल्मी गीत है- हम तुम दोनों जब मिल जाएंगे, एक नया इतिहास बनाएंगे। इसी तर्ज पर कहा जा सकता है कि फिल्मी गीतों में हिन्दी और उर्दू ने मिलकर 'हिन्दुस्तानी' का एक महत्त्वपूर्ण इतिहास रचा है। 'हिन्दुस्तानी' की कोई भी पहचान इन गीतों के बिना अधूरी रहेगी।

असिस्टेंट प्रोफेसर, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, मोबाइल नं.: 9990689254, ई-मेल: burnwalramesh77@gmail.com

मातृभाषा में शिक्षा का महत्त्व

- गरिमा त्रिपाठी

मातृभाषा में जो हम सीखते हैं, वह विश्व की दूसरी भाषाओं में नहीं सीख सकते। विदेशी भाषा में इतिहास, भूगोल सिर्फ पढ़ा जा सकता है। मातृभाषा एक सजीव शब्द कोष होता है। इसमें भावनायें हैं, सुहावने चिन्ह हैं, जातीय शक्ति की प्रतिमा है और हृदय परक भाव हैं। हमारा साहित्य और उसका गौरव मातृभाषा पर निर्भर होते हैं। जिससे हमारी भावनायें मजबूत होती हैं और आत्मा में शक्ति का प्रवाह होता है। मातृभाषा किसी पाठशाला की माँग नहीं करती। यह हमारे परिजनों और सामाजिक समरसता की देन होती है। व्यक्ति के जन्म लेने के साथ ही जो भाषा उसे विरासत के तौर पर मिलती है वही उस व्यक्ति की मातृभाषा कहलाती है। किसी भी व्यक्ति के लिए मातृभाषा उसकी सामाजिक पहचान होती है।

मनुष्य का विकास तथा उसकी मनोवृत्तियों का प्रसार मातृभाषा के माध्यम से ही हो सकता है। मातृभाषा में वह शक्ति विद्यमान है जिसके अन्तर्गत मानव हृदय में अन्तर्निहित भावों, विचारों, उद्ववेगों और रहस्यों को शब्दों में पिरो सकता है। भारतीय हृदय और मातृभाषा का संबंध अन्योन्याश्रित है। किसी भी भाषा और उसका साहित्य, जातीय विकास के रास्ते की पहली मंजिल है। यह जातीय विकास मानसिक उत्थान से जुड़ा होता है। समावेशी समाज के लिए यह जरूरी है कि समाज अपनी मातृभाषा में ज्ञान सम्पादित करे। इसी मार्ग से हम जातीय इतिहास और परंपराओं को सहेज सकते हैं। डॉ शम्भू नाथ ने उचित ही लिखा है कि "भारत एक बहुभाषा भाषी देश है, बहु जातीय देश है। आज इस वैश्वीकरण के दौर में ऐसे सवाल उठ रहे हैं कि जब इंसान ग्लोबल हो रहा है क्या विकास के लिए भारतीय भाषाओं की कोई अहमियत बची है?1

हिन्दी के प्रख्यात आलोचक रामविलास शर्मा भाषा और जातीयता के संबंध में गहन विचार व्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं कि "भाषा की समस्या मूलतः जातीय समस्या का ही एक अंग है। इस देश में अनेक भाषाएँ बोलने वाली जातियाँ रहती हैं ।इनसे मिलकर भारत राष्ट्र बना है। इस राष्ट्र में जातियों की संपर्क भाषा क्या हो, एक ही संपर्क भाषा हो या अनेक हो-यह समस्या का एक पक्ष है। "2

यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता की संवेदना रखने वालों में ऐसे भी हैं जिन्हें मातृभाषा में ममत्व की अनुभूति होती है। मातृभाषा के गर्भ से ही उच्च और पूर्ण मनोवृत्ति का जन्म होता है। मातृभाषा के प्रसार से सदाचार के विलक्षण स्वरूप के दर्शन होते हैं।

दुर्भाग्यवश भारतीय मातृभाषा प्राथमिक शिक्षा तक सिमटी हुई है यह मान लिया गया है कि मातृभाषा बच्चों की शिक्षा के लिए अनिवार्य है या यूं कहें कि सिर्फ बच्चे ही मातृभाषा सीखेंगे। क्या वे बच्चे जब मनुष्यता की भूमिका में आएँगे, तब मातृभाषा से परहेज करेंगे? आधुनिक शिक्षा किस बात को लेकर दंभ भर रही है? एक परदेशी भाषा को लेकर इतनी नासमझी क्यों है? यहाँ परदेशी भाषा का संबंध अंग्रेजी से है क्यों मातृभाषा में शिक्षा के अधिकार के मामले को संकुचित और क्षीण किया जाता रहा है?

'आजादी के अमृत महोत्सव 'के संदर्भ में तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री एम वैकेया नायडू कहते हैं कि हमारी भाषाएँ, हमारे वर्तमान को अतीत से जोड़ने वाला सूत्र हैं। श्री नायडू ने "क्षेत्रीय भाषाओं के स्थान पर 'भारतीय भाषाओं 'का प्रयोग करने को कहा। "यदि हम अपनी मातृभाषा खोते हैं तो हम अपनी पहचान खोते हैं। "3

मातृभाषा में जो हम सीखते हैं, वह विश्व की दूसरी भाषाओं में नहीं सीख सकते। विदेशी भाषा में इतिहास, भूगोल सिर्फ पढ़ा जा सकता है। मातृभाषा एक सजीव शब्द कोष होता है। इसमें भावनायें हैं, सुहावने चिन्ह हैं, जातीय शक्ति की प्रतिमा है और हृदय परक भाव हैं। हमारा साहित्य और उसका गौरव मातृभाषा पर निर्भर होते हैं। जिससे हमारी भावनायें

मजबूत होती हैं और आत्मा में शक्ति का प्रवाह होता है। मातृभाषा किसी पाठशाला की माँग नहीं करती। य़ह हमारे परिजनों और सामाजिक समरसता की देन होती है। व्यक्ति के जन्म लेने के साथ ही जो भाषा उसे विरासत के तौर पर मिलती है वही उस व्यक्ति की मातृभाषा कहलाती है। किसी भी व्यक्ति के लिए मातृभाषा उसकी सामाजिक पहचान होती है। मातृभाषा व्यक्ति की अस्मिता से जुड़ी होती है। 'रवीन्द्र नाथ ठाकुर 'अपने शैक्षणिक निबन्ध 'श्री निकेतन का दार्शनिक दृष्टिकोण 'में लिखते हैं कि "प्रत्येक जीवित प्राणी में आत्मरक्षा का गुण और जरूरत होती है। व्यक्ति की शिक्षा में उसके व्यक्तिगत जीवन की संपूर्ण देख रेख का प्रशिक्षण शामिल होना चाहिए। अगर ऐसा न होता तो न सिर्फ़ वह लाचार हो जाएगा बल्कि आत्मरक्षा का उसका य़ह गुण पूरी तरह क्षीण भी हो सकता है। "4

अर्थात इसी गुण से जीवन में आनंद की अनुभूति होती है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन के संयोग से ही शैक्षिक संस्थाओं का संचरण होता है। प्रो रमा ने भी शिक्षा को मनुष्य की महानतम उपलब्धियाँ मानते हुए लिखा है कि "शिक्षा मनुष्य की उन महानतम उपलब्धियों में से एक है जो मनुष्य को पशुओं से भिन्न करते हुए उसे विशेष बनाती है। मनुष्य की सभ्यता, संस्कृति एवं विकास के मूल में शिक्षा ही है। शिक्षा ही मनुष्य को अनुशासित, व्यवहार कुशल, कार्यकुशल, जागरूक और सामाजिक दायित्व बोध से युक्त बनाती है। शिक्षा मनुष्य को विभिन्न प्रकार की चुनौतियों से निबटने का मार्ग दिखाती है,उसे अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाती है। शिक्षा ही मनुष्य के सर्वांगीण विकास का आधार है। इसी के जरिए वह अराजकता और अंधकार से निकलकर संगठन, सहयोग, समन्वय, नीति एवं विधान के मार्ग पर अग्रसर होता है। "5

कहना उचित ही होगा कि अगर यही शिक्षा व्यक्ति की अपनी मातृभाषा में उपलब्ध हो सके तो य़ह भी व्यक्ति की महानतम उपलब्धियों में से एक होगा। मातृभाषा अखिल भारतीय स्तर पर सांस्कृतिक और भावनात्मक स्तर पर तादात्म्य स्थापित करने का एक मंच भी है। भारतीय लोकतंत्र प्राचीन सभ्यताएं, भारतीय समृद्ध संस्कृति और भारतीय संविधान विश्व में अनूठा स्थान रखता है। ठीक उसी तर्ज पर भारत की गरिमा एवं गौरव की प्रतीक' मातृभाषाओं 'को हर कीमत पर अक्षुण्ण बनाये रखना हमारा कर्तव्य है।

मातृभाषा हमारे मन-मस्तिष्क को शीलता प्रदान करती है। दुर्भाग्यवश आज भारत वर्ष में भारतीय भाषाएँ और बोलियां अपने संकट के दौर से गुजर रही हैं जिसकी कीमत हमारी भाषाओं एवं स्थानीय बोलियों को चुकानी पड़ रही है। विधि, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे कुछ मुद्दे ऐसे हैं जहाँ हम अपने विचारों और अनुभूतियों को अपनी भाषा और बोली में ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर पा रहे हैं। यही वज़ह है कि भारतीय जनमानस अपने आपको कहीं न कहीं ठगा हुआ महसूस करता है।

कहना उचित होगा कि भारतीय भाषाओं में एकरुपता और समावेशी विकास तथा सम्भव हो सकता है जब हम स्थानीय परिप्रेक्ष्य को विविधता की दृष्टि से देखें। यदि हम केवल सभ्यता के निरंतरता के प्रतीक के रूप में अपनी मातृभाषा और बोलियों में अन्तर्निहित सांस्कृतिक परंपराओं का शाश्वत विकास करें तो निश्चित तौर पर हम अपनी मातृभाषा की रक्षा कर सकते हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सर्वोदय 'में महात्मा गाँधी जी ने उचित ही लिखा है कि "शिक्षा से मेरा अभिप्राय य़ह है कि बच्चे और मनुष्य के शरीर, बुद्धि और आत्मा के सभी उत्तम गुणों को प्रकट किया जाए। मैं चाहता हूं कि सारी शिक्षा किसी दस्तकारी या उद्योग के द्वारा दी जाए। "6

यहां महात्मा गाँधी जी का अभिप्राय शिक्षा के उत्तम गुणों को रेखांकित करना है। महात्मा गाँधी शिक्षा के उत्तम गुणों की वकालत करते हैं। मनोविज्ञान की संकल्पना है कि जो शिक्षा अपनी मातृभाषा में दी जाएगी उसमें शोध अभिवृद्धि की दशा-दिशा स्पष्ट हो सकेगी। मातृभाषा मनुष्य के विकास की आधार शिला होती है महात्मा गाँधी जी ने मातृभाषा की श्रेष्ठता को समझाते हुए लिखा है कि 'मनुष्य के मानसिक विकास के लिए मातृभाषा उतनी ही जरूरी है जितनी कि बच्चे के शारीरिक विकास के लिए माता का दूध'।

प्रत्येक अनुसंधान या शोध का उद्देश्य भारतीय सनातन संस्कृति के मूल तत्व' सर्वे भवन्तु सुखिनः 'एवं मानवतावाद के कल्याण के लिए होना चाहिए। सामाजिक विज्ञान के अनुसंधान का मूल लक्ष्य प्रत्येक मनुष्य को बेहतर जीवन प्रदान करना होता है।

राजनीति की भी भाषा होती है और भाषा की भी राजनीति होती है। लेकिन मनुष्य भाषा से प्रेम करता है उसकी अपनी भाषा में उसे संगठन, सहयोग, समन्वय,नीति एवं विधान के मार्ग पर उसे चलने के लिए प्रेरित करता है। जब मनुष्य मातृभाषा में शिक्षा ग्रहण करता है तब उसकी सभ्यता और संस्कृति के मूल में अनुशासन, व्यवहार कुशलता और सामाजिक दायित्व बढ़ जाता है।

भारत की प्राचीन शिक्षा आध्यात्म प्रधान रही है और मातृभाषा में शिक्षा हमें मुक्ति प्रदान करती है। मातृभाषा में शिक्षा के महत्त्व पर प्रो रमा अपनी पुस्तक 'भारतीय शिक्षा व्यवस्था 'में लिखती हैं कि "जबसे मानव सभ्यता का उदय हुआ है तभी से भारत अपनी शिक्षा तथा दर्शन के लिए प्रसिद्ध रहा है। य़ह सब भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों का ही चमत्कार है कि भारतीय संस्कृति ने संसार का सदैव पथ-प्रदर्शन किया और आज कर रही है। शिक्षा का महत्त्व अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है। इसका कार्य क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसके अंतर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जिनको पूरा करने से व्यक्ति अपने जीवन को सुखी तथा सफल बनाते हुए सामाजिक कार्यों को उचित समय पर पूरा करने के योग्य बन जाता है कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से शिक्षा व्यक्ति की मूल प्रवृतियों का परिष्कार कर उसके सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। "7

इस प्रकार मनुष्य और समाज के विकास के लिए शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्यों को विकसित करना होगा। इन दोनों के समन्वय से शिक्षा की भविष्योन्मुखी योजना बनाई जा सकती है। व्यक्ति को अपने-अपने धर्म के मूल तत्व और मातृभाषा को तरजीह देना चाहिए। व्यक्ति को आत्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जाय?जिस प्रकार शारीरिक व्यायाम से शरीर की शिक्षा दी जाती है। य़ह आत्मिक शिक्षा व्यक्ति के निज भाषा में

अधिक पुष्पित और पल्लवित हो सकती है। हिन्दी साहित्य में नवजागरण के अग्रदूत कहे जाने वाले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने कहा है कि-

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटय न हिय को शूल "8

करोडों भारतीयों की मातृभाषा संतों और कवियों की सदियों से अपनाई जाने वाली भाषा हिन्दी ही है। काका कालेलकर ने भारतीय साहित्य नीति परिषद में कहा था कि "हमने ऐसा निर्णय कर लिया है कि हमारा व्यवहार कोई पुरानी या विदेशी भाषा में नहीं चलेगा। देशवासी जिसे बड़े पैमाने पर बोलते हों दूसरे लोग भी थोड़ा सा प्रयास करने पर समझ सकें, जिसकी सर्व संग्राहकता अच्छे ढंग से प्रमाणित हो चुकी हो और जो सबके पास पहुँचने और सभी के साथ में खेलने वाली प्यारी लाडली हो, ऐसी कोई भारतीय भाषा हमें अपनानी चाहिए। "9

सृजनात्मकता मनुष्य की वह योग्यता है जिसके माध्यम से वह अपने विचारों को एक रूप देता है जो प्राय: नवीन होता है जब मनुष्य ऐसा अभिनव कार्य करता है तब हम उसे सृजनशील मनुष्य कहते हैं। यह सृजनशीलता मनुष्य अपनी मातृभाषा के बल पर ही अर्जित करता है।

भाषा ज्ञान के विविध आयामों को खोलती है। हमारे देश में अंग्रेजी पर अति निर्भरता ने गाँव, कस्बों और शहरों तक के विद्यार्थियों को अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान के अभाव के कारण विज्ञान और तकनीकी ज्ञान से वंचित कर दिया है यह हमारी शिक्षा और भाषा नीति की विफलता है। आज हम सभी आजादी का अमृत महोत्सव मना रहे हैं वहीं दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान के पाठ्यक्रमों को हिन्दी, मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध कराने में असमर्थ हैं। भाषा की इस दुरूहता को कम करने के लिए रवीन्द्र नाथ टैगोर ने कहा है कि 'हमने अपनी आंखें खोलकर चश्मे लगा लिए हैं। 'यह चश्मे विदेशी भाषाओं के हैं जो आजादी मिलने के उपरांत अधिक बंटने और लगने लगे। इसी चश्मे को हटाने का कार्य वर्तमान प्रधानमंत्री जी ने किया है भारतीय शिक्षा व्यवस्था को व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ाने और आज की जरूरत को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने 'नई शिक्षा नीति 'का क्रियान्वयन किया है। जो वैश्विक स्तर पर चर्चा का विषय बनी हुई है। इस नई शिक्षा नीति के संबंध में सम्पूर्ण भारत में भाषा के महत्त्व पर बल दिया गया है। हमारी मातृभाषाएँ लोक सम्वाद और सम्प्रेषण की भाषा हैं। मातृभाषा रूपी यह धरोहर हमारे स्वाभिमान और राष्ट्र के प्रति दायित्व मूलक भी है। महात्मा गाँधी जी ने भी कहा है कि 'मेरी मातृभाषा में चाहे कितनी खामियां क्यों न हो ? मैं इससे इसी तरह चिपका रहूँगा जिस तरह बच्चा अपनी माँ की छाती से। '

इसी क्रम में नई शिक्षा नीति को पिरोया गया है नई शिक्षा नीति के तहत पाँचवी कक्षा तक के विद्यार्थियों को मातृभाषा, स्थानीय भाषा और राष्ट्रभाषा में ही अध्ययन करवाया जाएगा। नई शिक्षा नीति में यह भी प्रावधान है कि भाषा के चुनाव के लिए विद्यार्थियों के ऊपर किसी भी प्रकार की कोई बाध्यता नहीं होगी उनके लिए संस्कृत और अन्य प्राचीन भारतीय भाषाओं को पढ़ने के विकल्प भी मौजूद रहेंगे। वर्तमान सरकार ने एक और दिलचस्प और सराहनीय कार्य किया है। इसी कड़ी में बच्चों को खेल-कूद, योग, नृत्य, मार्शल आर्ट, बागवानी समेत अन्य शारीरिक गतिविधियों से जुड़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा। वर्तमान सरकार ने मातृभाषा से बच्चों का तादात्म्य इस भाँति स्थापित किया है कि चीजों को समझने-समझाने की क्षमता के साथ बच्चे विद्यालय में दाखिल होते हैं यदि उनकी इस क्षमता का इस्तेमाल पढ़ाई के माध्यम के रूप में मातृभाषा का चुनाव करके किया जाए तो निस्संदेह इसके दूरदर्शी और सकारात्मक परिणाम आएँगे।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यूनेस्को द्वारा भाषायी विविधता को बढ़ावा देने और उनके संरक्षण के लिए अंतर्राष्ट्रीय भाषा दिवस की शुरुआत भी की गयी है। हम प्राय: देखते हैं कि अवधी, भोजपुरी और ब्रज भाषा, मगही, मैथिली, मराठी कोंकणी, डोगरी आदि बोलियों में कही गई साहित्यिक विधाओं का व्यापक असर होता है।

इस प्रकार भाषा और बोली की मुख्य ताकत उसका शब्द भण्डार होता है इसका संबंध मनुष्य के प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश से होता है जिससे आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का निर्माण किया जाता है। नई शिक्षा नीति के माध्यम से इसी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बिन्दुओं को समझने का प्रयास किया गया है जिसमें मातृभाषा को आधार बनाया गया है। मातृभाषा रूपी यह आधार हमें यानी हमारे देश को वैश्विक मंच के समानांतर स्थापित करने का कार्य करेगी क्योंकि भाषा मानव संस्कृति का एक आवश्यक उपकरण है। भाषा की भाव-प्रकृति का संबंध मनुष्य की चिंतन प्रक्रिया से है। इसलिए वह दर्शन या मनोविज्ञान का विषय है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. राष्ट्रीय पुनर्जागरण और रामविलास शर्मा; शम्भू नाथ, पृष्ठ-163 नयी किताब दिल्ली प्रथम संस्करण 2013
2. भारत की भाषा समस्या; रामविलास शर्मा, भूमिका से उद्धृत, राजकमल प्रकाशन संस्करण 2017
3. 22 फरवरी 2021, पीआईबी दिल्ली (PIB, Delhi)
4. रवीन्द्र नाथ टैगोर का शिक्षा दर्शन, रवीन्द्र नाथ ठाकुर पृष्ठ 130। अनुवादक-गोपाल प्रधान ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली-110002 प्रथम हिन्दी संस्करण-1997
5. भारतीय शिक्षा व्यवस्था; प्रो रमा, भूमिका से उद्धृत सम्वाद मीडिया प्रा लि नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017
6. सर्वोदय; महात्मा गाँधी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर। अहमदाबाद, पृष्ठ 155-156
7. भारतीय शिक्षा व्यवस्था; प्रो रमा, पृष्ठ -24
8. भारत दुर्दशा; भारतेन्दु हरिश्चंद्र, मूल पाठ
9. काका कालेलकर ग्रंथावली, भाग-9 भूमिका से उद्धृत संपादक- सुंदरम, उमाशंकर जोशी, प्रकाशन समिति अहमदाबाद- 38009, वर्ष-1985

✦✦✦

सी-224, गांधी विहार, मुखर्जी नगर के पास, दिल्ली-110009, मो. 8802279028

हिंदी सिनेमा में परिवार और संवाद की संस्कृति

- डॉ. राकेश कुमार योगी

एक शताब्दी और एक दशक का हिंदी सिनेमा की यात्रा में श्वेत-श्याम से अनगिनत रंगों तक, खामोशी से संगीत के सुरों एवं बेसुरे शोर तक, देस की सौंधी माटी से विदेशी चकाचौंध, रूप बदलते कलाकारों से एनीमेशन की मायावी दुनिया तक, सिंगल स्क्रीन से मल्टी स्क्रीन और फिर ओटीटी तक असंख्य पड़ाव आए हैं। यह यात्रा निरंतर जारी है और पूरी यात्रा ही बदलाव की कहानी है। सिनेमा के विशेषज्ञ, अध्येता इस बदलाव को अनेक तरह से परिभाषित करते हैं इन्हीं परिभाषाओं के आधार पर किसी को सिनेमा का मौन युग कहा जाता है तो किसी को स्वर्ण युग। सिनेमा एक जीवंत विधा है जो देखने वाले प्रत्येक दर्शक को अपने वास्तविक जीवन से इतर एक जीवन जीने का अनुभव करा सकती है, प्रेरणा दे सकती है या भ्रमित अथवा दिशाहीन भी कर सकती है।

राजा हरिश्चंद्र, सत्यवान-सावित्री, कालिया मर्दन, शकुंतला, संत तुकाराम और भक्त गोरा जैसी भारत एवं भारतीय मूल्यों से जुड़ी कहानियों से भारतीय सिनेमा की अद्भुत यात्रा का शुभारंभ हुआ। सत्य वचन की मर्यादा के लिए एक राजा शमशान में नौकर हो गया और अपना परिवार, अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया। एक स्त्री ने अपने पति के प्राणों की रक्षा के लिए मृत्यु के देवता तक को अपना निर्णय बदलने के लिए विवश कर दिया। एक पशुपालक परिवार में जन्मे बालक ने अपने समाज की रक्षा के लिए विषधारी भुजंग से संघर्ष किया। ऐसे अनेक कथानक भारतीय फिल्मों के विषय बने जो लोक जीवन में सदियों से भारतीय जनमानस के नैतिक बल को सामर्थ्य प्रदान करते रहे थे। बोलती फिल्मों का दौर आया और पौराणिक और ऐतिहासिक कहानियों पर फिल्में बनती रही। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन अपने चरम पर था और भारतीय सिनेमा अनेक प्रकार से इस आंदोलन की आग को परोक्ष प्रज्वलन प्रदान कर रहा था। इस दौर की फिल्मों में तत्कालीन समसामायिक विषयों पर सामाजिक चेतना का प्रवाह भी स्पष्ट दिखाई देता था। यह सत्य ही है कि किसी भी प्रकार के रचनात्मक कार्य में समय-काल-परिस्थिति का प्रभाव अवश्यंभावी है इसलिए उस समय के भारतीय समाज के भीतर व्याप्त बुराईयों को लेकर फिल्में बनी। भारतीय समाज के धरातल पर कहानियाँ लिखने वाले कालजयी साहित्यकार प्रेमचंद की कहानियों पर 'स्वामी' और 'रंगभूमि' जैसी फिल्में बनाई गई। 'अछूत कन्या', 'नीचा नगर' जैसी फिल्मों ने छुआछूत, आर्थिक-सामाजिक भेदभाव जैसे विषयों पर उसी भावना का प्रतिनिधित्व किया जिसको लेकर उस समय में स्वामी दयानंद से लेकर महात्मा गांधी तक सभी सुधारक एक महत्वपूर्ण आंदोलन चला रहे थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी सामाजिक चेतना की फिल्मों का दौर जारी रहा और साथ ही प्रेम कहानियों को केन्द्रीय विषय बनाने की भी शुरुआत हुई किंतु इन सबके बीच भारतीय समाज की नैतिक एवं पारिवारिक मूल्यों की महत्ता सदैव रही। इसके बाद 1957 में आई एक महत्वपूर्ण फिल्म जिसकी चर्चा इस आलेख के विषय के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। स्वतंत्रता के पश्चात एक नागरिक केन्द्रित लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयासरत देश में जागीरदारी की विरासत में मिली साहूकारी शोषण प्रथा से पीड़ित समाज की व्यथा इस कहानी का केन्द्रीय विचार था लेकिन फिल्म ने विश्वस्तर पर ख्याति प्राप्त की भारतीय सामाजिक मूल्यों के अद्भुत प्रकटीकरण के कारण। भारत के तत्कालीन ग्रामीण जीवन की इस कहानी में अशिक्षा है, गरीबी है, अकाल है, भूख है और एक शोषणकारी व्यवस्था है जिसको सहमे हुए विवश समाज की सहमति है। इस सबसे जूझते हुए भी मुस्कराता एक परिवार है जिसने भूख, गरीबी, कर्ज और सूदखोरी के दुश्चक्र से निकलने के लिए मेहनत का हथियार उठा रखा है लेकिन दुर्भाग्य किसी भी पल पीछा नहीं छोड़ता और पुरुष मुखिया अपाहिज होने के बाद बेबसी से

हारकर परिवार को अकेला छोड़ जाता है। तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद अपने दो बच्चों के साथ एक अकेली मां हालात से जूझती है। इस दुर्दशा का जिम्मेदार सूदखोर साहूकार इस मां के बेटों खास तौर पर छोटे बेटे के लिए सबसे बड़ा खलनायक है। उससे बदला लेने के लिए बेटा डाकुओं से साथ मिलकर साहूकार की बेटी को शादी के मंडप से उठा ले जाता है और तमाम उम्र साहूकार द्वारा सतायी गई मां अपने ही बेटे को गोली मारकर साहूकार की बेटी को बचा लेती है। सारी उम्र कड़ी मेहनत और तपस्या से बेटों को पालने वाली इस मां का बेटे को गोली मारने से पहले का संवाद पारिवारिक और भारतीय सामाजिक मूल्यों का सहज प्रकटीकरण है–

मां – बिरजू रूपा को छोड़ दे वरना मैं तुझे जान से मार डालूँगी

बेटा – तू मुझे नहीं मार सकती मां, तू मेरी मां है

मां – मैं एक औरत हूं

बेटा – मैं तेरा बेटा हूं

मां – रूपा सारे गांव की बेटी है, वो मेरी लाज है... बिरजू मैं बेटा दे सकती हूं लाज नहीं...

इस संवाद के बाद मां बेटे को गोली मार देती है और बेटा सूदखोर से छीनकर लाए मां के कंगन हाथों में लिए मां की गोद में दम तोड़ देता है। साठ से अस्सी के दशक तक हिंदी सिनेमा में परिवार उसका संघर्ष, उसका प्रेम, उसकी मर्यादा और उसके भारतीय मूल्य कुछ इसी प्रकार कमोबेश दिखाई देते रहे। तत्कालीन परिस्थियों के अनुसार फिल्मों के केन्द्रीय विषय बदलते रहे किंतु हिंदी फिल्मों में परिवार और पारिवारिक संवाद की गरिमा सदैव बनी रही। राजकपूर के फिल्मों प्रवेश के साथ प्रेम केन्द्रीय विषय बना लेकिन प्रेम पारिवारिक मूल्यों के विरुद्ध नहीं गया। 1962 में चीन से युद्ध में हार के बाद निर्मित हताशा के वातावरण में देशभक्ति के साथ साथ रोमांस, कॉमेडी, थ्रिलर जैसे विषयों पर आधारित फिल्में बनी लेकिन भले एक ही दृश्य के माध्यम से सही, फिल्मों में पारिवारिक मूल्यों का महत्व स्पष्ट दिखता था। माता-पिता के प्रति श्रद्धा और समर्पण, भाई-बहन के प्रति स्नेह, भाभी के प्रति सम्मान सहित नैतिक मूल्यों के लिए प्रतिबद्धता को आदर्श के रूप में दिखाए जाने की परंपरा रही। दिलीप कुमार, देव आनंद, राजेश खन्ना, और अमिताभ युग तक में इस पारिवारिक वातावरण के फिल्मांकन में कोई मूल परिवर्तन दिखाई नहीं देता। राजेश खन्ना की आराधना, सफर, आनंद, अवतार, अमर प्रेम, दो रास्ते, बंधन, डोली जैसी फिल्मों की कहानी भारतीय पारिवारिक मूल्यों के इर्दगिर्द बुनी गई वहीं एंग्री यंग मैन के अवतार में मशहूर हुए अमिताभ की फिल्मों के केंद्र में भी परिवार अवश्य ही रहा। दीवार, जंजीर, सुहाग, कभी-कभी, सिलसिला जैसी लीक से हटकर बनी फिल्मों में परिवार का महत्व, संवाद की मर्यादा सदैव कायम रही। समाज के साथ साथ हिंदी सिनेमा भी समय की यात्रा कर रहा था लंबे समय तक एक ही प्रकार के फॉर्मूले पर फिल्में बनीं जिनमें ताजगी का अभाव था। भारत एक नए दौर में प्रवेश की तैयारी कर रहा था, दुनिया के लिए भारत के दरवाजे खुल रहे थे और उदारीकरण के रास्ते व्यापार के साथ साथ पश्चिमी संस्कृति की आहट भी होने लगी थी। इस दौर के शुरु होने से ठीक पहले और तुरंत बाद में दो महत्वपूर्ण फिल्में आई जिन्होने ना केवल आर्थिक रूप से हिंदी सिने जगत को समृद्धि दी बल्कि एक नई ताजगी भी प्रदान की। इनमें एक फिल्म थी 1989 में आई "मैने प्यार किया" जिसमें एक लड़की अपने मध्यमवर्गीय पिता के धनाढ्य दोस्त के यहां रहने जाती है जिनका एक जवान बेटा है। वर्ग भेद से अनजान दोनों प्रेम में पड़ जाते हैं लेकिन कहानी किसी आम फिल्मी कहानी की तरह मारपीट और प्रतिशोध पर नहीं जाती बल्कि परिवार, प्रेम, मर्यादा और अनुग्रह से सुखद अंत तक पहुंचती है। परिवार का स्नेहिल वातावरण, निर्दोष-निस्वार्थ प्रेम, पिता-पुत्र, पिता-पुत्री और माता और पुत्र के बीच गरिमा से भरा वात्सल्य संवाद इस फिल्म को खुशनुमा ताजगी से भर रहा था। इसके बाद दूसरी महत्वपूर्ण फिल्म आई 1994 में भारतीय परिवार जीवन की सौंधी महक को नई बाजार की चमक में लपेटे हुई। फिल्म का नाम था "हम आपके हैं कौन"। रिश्तों की, परंपराओं की, मर्यादाओं और अपनों के लिए समर्पण की अद्भुत कहानी और उतना ही बेहतर फिल्म निर्माण। इस फिल्म ने भारतीय परिवार में विवाह समारोह के रीति-रिवाजों के मर्म को कोमल भावनाओं के रस में गूंथकर ऐसी भव्यता का निर्माण किया जिसका अब तक कोई सानी नहीं। फिल्म के हर हिस्से में बगिया जैसी ताजगी और फूलों जैसी खुशबू बहती है। कहानी कोई नहीं नहीं थी, कुछ वैसी ही कहानी अस्सी के दशक में "नदिया के पार" फिल्म में कही जा चुकी थी लेकिन नए दौर में नए कलेवर में भारतीय समाज को अपनेपन में बांधा लेने वाला फिल्मांकन "हम आपके हैं कौन" को विशेष बनाता है। यह फिल्म परंपराओं और परिवार की फिल्म थी लेकिन इसकी भव्यता नए वैश्विक बाजार युग की दस्तक दे रही थी।

एक शताब्दी और एक दशक का हिंदी सिनेमा की यात्रा में श्वेत-श्याम से अनगिनत रंगों तक, खामोशी से संगीत के सुरों एवं बेसुरे शोर तक, देस की सौंधी माटी से विदेशी चकाचौंध, रूप बदलते कलाकारों से एनीमेशन की मायावी दुनिया तक, सिंगल स्क्रीन से मल्टी स्क्रीन और फिर ओटीटी तक असंख्य पड़ाव आए हैं। यह यात्रा निरंतर जारी है और पूरी यात्रा ही बदलाव की कहानी है। सिनेमा के विशेषज्ञ, अध्येता इस बदलाव को अनेक तरह से परिभाषित करते हैं इन्हीं परिभाषाओं के आधार पर किसी को सिनेमा का मौन युग कहा जाता है तो किसी को स्वर्ण युग। सिनेमा एक जीवंत विधा है जो देखने वाले प्रत्येक दर्शक को अपने वास्तविक जीवन से इतर एक जीवन जीने का अनुभव

करा सकती है, प्रेरणा दे सकती है या भ्रमित अथवा दिशाहीन भी कर सकती है। वैश्वीकरण के बाजारवादी दौर से पूर्व हिंदी सिनेमा के एक बड़े हिस्से पर वास्तविक जीवन की खुशियों और त्रासदी का जितना गहरा प्रभाव रहा है उतना ही प्रभाव वैश्वीकरण के बाद अवास्तविकता, भ्रम तथा पश्चिमी पिछलग्गूपन का पड़ा जो आज भी जारी है। इस संदर्भ में "हम आपके हैं कौन" के तुरंत बाद आई, सफलतम फिल्मों में शुमार "दिल वाले दुल्हनियां ले जाएंगे" की चर्चा आवश्यक है। खुले वैश्विक बाजार के माहौल में किशोर और किशोर से युवा हो रही पीढ़ी के लिए यह फिल्म जीवन जीने की किसी नई अवधारणा से कम नहीं थी। यह फिल्म इस बात का भी उदाहरण है कि किस प्रकार सिनेमा समाज में असामान्य, अस्वीकार्य बातों को भी चुपके से हमारे जीवन में पहली बार प्रवेश करा देता है भले ही चेतन मन इससे इंकार करे लेकिन अवचेतन में इस प्रकार की स्वीकृतियाँ जगह बनाती जाती हैं। पिता पुत्र के बीच संवाद के विषयों की मर्यादा, व्यवहार की गरिमा जैसे सामान्य आचरण को फिल्म बड़ी ही सहजता से असामान्य घोषित करती है और भारत के युवा के लिए सर्वथा एक नए परिवार तथा रिश्तों की कल्पना प्रस्तुत करती है। अपने बेटे के परीक्षा में फेल होने पर एक खानदानी धनाढ्य पिता उसको अपने साथ शराब पिलाकर उत्सव मनाता है, दुनिया घूमने को भेजता है, बाद में एक अनजान लड़की के प्रति बेटे के अनकहे भावों को शब्द देता है और बिना यह जाने कि लड़की क्या सोचती है, उसे लड़की को अपने साथ लाने के लिए दूसरे देश भेज देता है जबकि लड़की परिवार की मर्जी से शादी करने जा रही है। लड़का वहाँ जाकर लड़की के होने वाले ससुराल में कृत्रिम रिश्ते बनाता है जिनमें झूठा प्रेम है, दोस्ती है, सम्मान है। लड़का, लड़की के घरवालों से भी स्नेह के संबंध बनाने में सफल होता है। फिल्म में पारिवारिक मूल्यों को मानने वाला, युवाओं के अमर्यादित आचरण से नाराज होने वाला, अपने देश की माटी से प्रेम करने वाला, संस्कारों की बात करने वाला, परंपराओं का पालन करने वाला, मां, बहन, पत्नी, बेटी, भाई और दोस्ती तक के रिश्ते के लिए समर्पण रखने वाला एक कठोर दिखने वाला पिता लगभग एक खलनायक बन जाता है और बेटे को साथ में शराब पिलाने वाला, खानदानी पैसे पर मौज करने-कराने वाला गैर-जिम्मेदार पिता आदर्श बन जाता है। पीढियों में भी जिस बदलाव को स्वीकार करना सहज नहीं होता उस बदलाव को फिल्म तीन घंटे में ही सहजता से दर्शकों के अवचेतन मन में छोड़ जाती है। पारिवारिक मूल्यों और संवाद की दृष्टि से यह बदलाव अत्यंत महत्वपूर्ण था क्योंकि यह सब नैतिकता के एक आवरण में प्रस्तुत किया गया था जिसका प्रतिनिधि संवाद था – "मैं यहाँ तुम्हें अपनी दुल्हन बनाने के लिए आया हूं, पर तुम्हें यहां से ले जाऊंगा तभी जब तुम्हारे बाऊजी खुद तुम्हारा हाथ मेरे हाथ में देंगे"

पारिवारिक संबंधों और संवाद की अवधारणा में जिस परिवर्तन की दस्तक इस फिल्म ने दी उसको बाजार से लेकर हिंदी सिने जगत हाथों-हाथ लिया। फिल्में बनती रहीं, भारता मध्यमवर्गीय मेहनतकश पिता, संघर्षों से बनी 'मदर-इंडिया' मूल्यों के लिए समर्पित मां और ना जाने कौन-कौन से रिश्ते किस किस तरह आसानी से कुछ और होते चले गए। फिल्में समाज के छोटे से नामालूम हिस्से को वास्तविक बताकर पेश करती रहीं और समाज का बड़ा हिस्सा वैसा बनने की होड़ में हड़बड़ाते हुए आगे बढ़ता रहा। पिछले दो दशक से ऐसा लगता है जैसे हर तरफ भारहीन होने की स्पर्धा छिड़ी है, संवाद में, गीतों में, कहानियों में सिनेमा हल्का होता गया और समाज भी उसी गति से उसका आईना बनता रहा। इस भारहीनता का श्रेय सिर्फ सिनेमा को देना समाज और सिनेमा दोनों के साथ अन्याय होगा किंतु एक हिस्से के तौर पर इस रूप में सिनेमा का विश्लेषण अन्यायपूर्ण नहीं है। ऐसा नहीं कि इस दौर में सामाजिक सरोकार अथवा पारिवारिक मूल्यों के लिए सचेत फिल्में नहीं आई किंतु संख्या में प्रधानता उन फिल्मों की रही उनमें विपरीत विचार रहा। "दिल चाहता है", "जिंदगी ना मिलेगी दोबारा", "दिल धड़कने दो" "जवानी जानेमन" उन हजारों फिल्मों में से चंद नाम है जिन्होने परिवार के भारतीय विचार को पूरी तरह एक नए कलेवर में पेश किया है। हाल ही में आई फिल्म "जुग-जुग जियो" का एक दृश्य इस बदलाव के प्रति फिल्मकारों के हठ का प्रतीक माना जा सकता है जिसमें विदेश से लौटा बेटा पिता के पैर छूता है और पिता उसे मना करता हुआ किसी कथित आधुनिक तरीके से चीयर करता है। इस फिल्म की बाकी कहानी तो परिवार और रिश्तों की बुनियाद में तेजाब डालने के लिए ही बनी प्रतीत होती है।

नई तकनीक के युग में सिनेमा मल्टीप्लेक्स से निकलकर छोटी स्क्रीन पर भी आ गया है। ओटीटी प्लेटफॉर्म सिनेमा का अलग ही रंग देखने का मिल रहा है। फिल्मों जैसी वेबसीरीज में परिवार, संवाद और संस्कृति का न्यूनतम तल छूने का प्रतिस्पर्धा है। मिर्जापुर नामक सीरीज में रिश्तों की विद्रूपता और परिवार नामक संस्था का घृणित स्वरूप दिखाने की पराकाष्ठा है। फेमिली मैन नामक सीरीज परिवार के नाम पर बनाई और बेची गई जिसमें बच्चे मां को नाम से बुलाते हैं तथा पिता से गालियाँ सीखते हैं। मध्यवर्गीय पिता की कमजोर आर्थिक स्थिति से घृणा करते हैं और देश के लिए काम करने वाला पिता सबकुछ एक बलिदान के तौर पर स्वीकार करता है। सिनेमा समाज के प्रबोधन का दायित्व भी ले रहा है किंतु उसमें सबसे महत्वपूर्ण कारक परिवार और संवाद की संस्कृति का विद्रूप चित्रण चिंता पैदा करने वाला है।

✦✦✦

मकान नंबर - 235, ग्राउंड फ्लोर, ऑर्चिड आईलैंड, सेक्टर 51, गुरुग्राम, हरियाणा।, पिन - 122413,
Mobile no - 9871621567, ई-मेल: rakeshyogi31@gmail.com

समांतर सिनेमा के पचास वर्ष : हिंदी सिनेमा में प्रतिरोध की पृष्ठभूमि

- डॉ. महेंद्र प्रजापति

'समांतर' सिनेमा को सही मायने में श्याम बेनेगल ने गति प्रदान की। विज्ञापन फिल्मों से फिल्मी यात्रा आरंभ करने वाले श्याम बेनेगल संजीदा लेखक, निर्देशक और निर्माता हैं। 1973 में प्रदर्शित उनकी पहली फिल्म 'अंकुर' ने ही उन्हें स्थापित कर दिया। श्याम बेनेगल समांतर सिनेमा के पहले ऐसे निर्देशक हैं जिनकी फिल्मों में प्रतिरोध की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। दलितों के अंदर के आक्रोश को चिन्हित करने वाले श्याम बेनेगल भारतीय सिनेमा के समाजशास्त्र को बदलने वाले निर्देशक भी हैं। 'अंकुर' गांवों में शहर के हस्तक्षेप से बदलते परिवेश के कारण आपसी संघर्ष ही अंकुर की मूल संवेदना है। 'अंकुर' ने कुल 42 पुरस्कार जीते, जिनमें तीन राष्ट्रीय पुरस्कार भी शामिल है। इसके बाद श्याम बेनेगल ने 'निशांत (1975) और 'मंथन' (1976)' का निर्माण किया, 'मंथन' को राष्ट्रीय पुरूस्कार से सम्मानित किया गया।

बोलती फिल्मों के साथ ही व्यावसायिक और अव्यावसायिक फिल्मों की बहस शुरू हो गई। विश्व सिनेमा के परिदृश्य पर हिंदी सिनेमा की छवि अभी उतनी मजबूत नहीं है लेकिन समांतर सिनेमा जिसे कला सिनेमा या यथार्थवादी सिनेमा भी कहा गया, ने कुछ अर्थपूर्ण फिल्मों द्वारा भारतीय सिनेमा की छवि को स्थापित करने का प्रयास किया। बहुचर्चित पत्रिका 'माधुरी' के संपादक अरविंद कुमार ने सामंतर सिनेमा का नामकरण किया। व्यावसायिक और मनोरंजन प्रधान फिल्मों के समांतर किसी सामाजिक मुद्दे पर बनी फिल्मों को समांतर सिनेमा कहा गया।

हिंदी सिनेमा का आरंभिक इतिहास देखें तो फिल्म के प्रति समाज का सम्मोहन जादुई था। लोग भागते-दौड़ते चित्रों को उत्सुकता से देखते थे। धार्मिक, पौराणिक पात्रों को लेकर बनी यह फिल्में समाज को प्रभावित करती थीं क्योंकि उस दौर में यही एक ऐसा कला माध्यम था जिसे पैसे देकर लोग आसनी से देख पाते थे। आज़ादी के बाद बनी फिल्में आम आदमी की पीड़ा कहती थीं। दो बीघा ज़मीन, धरती के लाल, आवारा, 'बिराजबहू', नया दौर, अपराजिता, अपूर संसार, तीन कन्या औरत, मदर इंडिया, जिस देश में गंगा बहती है, रोटी कपड़ा और मकान जैसी फिल्में सामाजिक सरोकार के कारण लंबे समय तक दर्शकों को प्रभावित करती रहीं।

समांतर सिनेमा की शुरुआत आंदोलन के रूप में सत्तर के दशक में हुई। हिंदी और बांग्ला के फ़िल्मकारों ने मिलकर समांतर सिनेमा को दिशा दी। सत्यजीत रे, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन, मणि कौल, श्याम बेनेगल जैसे फ़िल्मकारों ने समांतर सिनेमा को स्थापित किया। अर्थपूर्ण सिनेमा का आरंभ तो पचास के दशक में ही हो चुका था लेकिन उसे 'समांतर सिनेमा' के साँचे में ढालने में दो दशक का समय लग गया। सत्तर के दशक में उभरा 'समांतर' सिनेमा मनोरंजन के नाम पर परोसे जा रहे हिंसा, अश्लीलता और भौंडेपन के खिलाफ एक आंदोलन था। दलित, पिछड़ा और समाज से निकाल फेके गए समाज के अंदर के प्रतिरोध को मुखर करने में 'समांतर' सिनेमा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

'समांतर' सिनेमा द्वारा ही भारत की पारंपरिक कलाओं को पहचान मिली। तकनीकी का अतिशय प्रयोग कर फिल्म के मर्म को खत्म करने वाले फ़िल्मकारों के लिए 'समांतर' सिनेमा एक चुनौती थी। भारत के विभिन्न भाषाओं में शुरू हुए यह भारतीय सिनेमा की अमूल्य निधि है- "सत्तर के दशक का हिंदी सिनेमा सोद्देश्य, स्वच्छ, कलात्मक, मनोरंजन और गैरजिम्मेदार, मुनाफाखोर और निकृष्ट मनोरंजन के बीच संघर्ष की कहानी है। फिल्म को साहित्य, नाटक, संगीत, चित्रकला, फोटोग्राफी आदि अन्य कलाओं का एक बेहद असरदार, संश्लिष्ट

माध्यम मानते हुए मुख्यधारा की फिल्मों के सामांतर एक आंदोलन भारत के विभिन्न प्रदेशों में, बिना किसी गोलबंदी के विकसित हुआ था।"1

'समांतर' सिनेमा बनाने वाले निर्देशकों के लिए फिल्म सामाजिक बदलाव का एक जरिया था। उनके लिए धन और शोहरत महत्वपूर्ण नहीं था। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित यह फ़िल्मकार फिल्म का निर्माण ही किसी विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिए करते थे। सत्तर के दशक में अमिताभ बच्चन के उभार से हिंसा और हास्य ही सिनेमा का मुख्य बिन्दु बना दिया। भारतीय दर्शकों की मनोदशा इस दौर में परिवर्तनकारी थी। सामाजिक और राजनैतिक बदलाव के कारण युवाओं में गुस्सा और निराशा थी जिसका फायदा हिंसात्मक फिल्मों द्वारा उठाया गया। गाँव का जमीदार शहर का पूंजीपति बन चुका था जिससे अमिताभ, मिथुन, धर्मेंद्र जैसे अभिनेता पर्दे पर उनसे टक्कर ले रहे थे। युवाओं के अंदर के क्रोध को सिनेमा द्वारा भुनाया जा रहा था। 'समांतर' सिनेमा बनाने वाले फ़िल्मकार युवाओं को सही दिशा देना चाहते थे लिहाज़ा ऐसी फिल्मों को बनाना चाहते थे जिससे युवा अपने अंदर के अवसाद, क्रोध और अकेलेपन का सर्जनात्मक उपयोग कर सके। 'समांतर' सिनेमा ने बहुत बुनियादी सवालों को उठाने का प्रयास किया। ग्रामीण और शहरी जीवन की विसंगति को 'समांतर' सिनेमा ने नए रूप में पेश किया। 'हीरो' की जगह 'अभिनेता' को महत्व दिया यही कारण है कि नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी, अमोल पालेकर जैसे सामान्य दिखने वाले लोग इस आंदोलन का हिस्सा बने- "सामांतर फिल्मों के निर्देशक-निर्माताओं का मानना था कि बेहतर जनरुचि के विकास में फिल्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, साथ ही सामाजिक यथार्थ की असरदार प्रस्तुति से सिनेमा के जरिए जनता में जागृति लाना भी संभव है। इसके ठीक विपरीत मुख्यधारा की फिल्मों ने जनता को कपोल-कल्पित कथाओं पर आधारित फिल्मों के जरिए निम्नमान का मनोरंजन परोसते हुए जनता की रुचि को विकृत किया।"2

'समांतर' सिनेमा जिसे कला सिनेमा का नाम भी दिया जाता है, का आरंभ फ्रांस से माना जाता है। आंदोलन के रूप में शुरू हुआ यह सिनेमा पूरी दुनिया में चर्चित हुआ। 'समांतर' सिनेमा की एक विशेषता यह भी है कि इसमें साहित्य, कला और संस्कृति को समझने वाले लोग भी जुड़े। साहित्य और सिनेमा के संबंधों को मजबूत करने में इस आंदोलन ने भी भूमिका निभाई। फ्रांस को कलाओं की जननी कहा जाता है। कुछ लोगों का मानना है कि 'समांतर' सिनेमा पर द्वितीय विश्वयुद्ध से उपजे शून्यवाद, निराशावाद, असंगतता का प्रभाव भी प्रभाव है। कुछ फिल्म आलोचकों का यह मानता है कि 'समांतर' का आरंभ फ्रेंच के न्यू-वेब सिनेमा से हुई जिसकी पहचान नवयथार्थवादी सिनेमा के रूप में हुई। न्यू-वेव सिनेमा बड़े बैनर और महंगे लोकेशन से निकाल कर आम जनता के बीच गाँव-गिराव में पहुँचा। जर्मनी जैसे प्रभावशाली देश ने भी न्यू वेब सिनेमा को अपनाया। न्यू वेब सिनेमा ने जर्मनी की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक समस्या को सुलझाने में निर्णायक भूमिका निभाई। भारत में 'समांतर' की शुरुआत बांग्ला के महत्वपूर्ण फ़िल्मकार मृणाल सेन की 'भुवन सोम' (1969) से मानी जाती है। 'भुवन सोम' भारतीय सिनेमा की समांतर धारा को मजबूत करने वाली सबसे बड़ी फिल्म साबित हुई-"सन 1969 से आरम्भ हुए और सन 1992 तक लगभग समाप्त हो चुके इस नयी धारा की समानांतर फिल्मों ने सिनेमा के एक खास दर्शक वर्ग को एक नयी और सृजनात्मक सोच अवश्य दी। "3 मृणाल सेन ने पहली बार हिंदी सिनेमा में काम किया और अभिनेता के रूप में उन्होंने उत्पल दास को चुना जो हिंदी सिनेमा के बहुचर्चित और गंभीर हास्य अभिनेता माने जाते थे। उत्पल दास हिंदी, बांग्ला, अँग्रेजी के विद्वान थे और बांग्ला रंगमंच के मशहूर अभिनेता थे। 'भुवन शोम' के माध्यम से मृणाल सेन ने एक दबंग चरित्र वाले प्रशासनिक अधिकारी के जीवन में छुपे हास्य को पूरी नाटकीयता से प्रस्तुत किया। रेलवे प्रशासनिक अधिकारी के रूप में उत्पल दास ने भुवन शोम की भूमिका को इस कदर जीवंत किया कि वह किरदार भारतीय जनमानस का हिस्सा बन गया। भुवन शोम ने केवल विषय-वस्तु ही नहीं, सिनेमा के भाषायी समीकरण को भी उलट दिया। उत्पल दास की नाटकीय अभिनय क्षमता से संवादों की प्रस्तुति इतनी रोचक बनी है कि उसका असर कभी खत्म नहीं हो सकता। उत्पल दत्त के साथ साधू मेहर, सुहासिनी मुले जैसे मंझे हुए कलाकारों ने संजीदा अभिनय किया है। रेलवे के ईमानदार लेकिन खडूस चरित्र की भूमिका में शोम साहब (उत्पल दत्त) की ईमानदारी ही उनकी पूंजी है। उनकी इस ईमानदारी ने उन्हें अकेला कर दिया है। फिल्म की कहानी में परिवर्तन तब आता है जब भुवन शोम द्वारा अपने ही विभाग में काम करने वाले उनसे छोटे पद के कर्मचारी जाधव पटेल (साधू मेहर) की जांच के लिए उन्हें सौराष्ट्र आना होता है। जहाँ आने का एक मकसद रेगिस्तान पक्षियों का शिकार करना भी है। पक्षी का शिकार ही फिल्म की कथा का मुख्य केंद्र है। शोम गाँव की नवयौवना, उन्मुक्त चरित्र वाली गौरी (सुहासिनी मुले) के साथ वह पक्षी शिकार पर निकल जाते हैं। फिल्म में गौरी के माध्यम से शोम बाबू जीवन के ऐशो-आराम से निकलकर ग्रामीण जीवन का यथार्थ देखते हैं तो उनका नज़रिया बदल जाता है। ग्रामीण जीवन का अभाव, तनाव लेकिन जीवंतता और अभाव में भी खुश रहने का भाव इस फिल्म को उच्च जीवन और निम्न जीवन के बीच का फर्क दिखाती है। गौरी को पता नहीं है कि यह शोम बाबू ही साधू की इन्क्वायरी के लिए आए हैं। वह कहती है-"वे तो बड़ी

ईमानदारी से सवारियों की सेवा करते हैं, मुसाफिर उसे चाय-पानी के लिए कुछ देते हैं।"4 आम आदमी के जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि वह बहुत नियम से जीवन जी नहीं सकता है। बुनियादी चीजों के लिए वह थोड़ा गलत-सही करता ही है। ग्रामीण जीवन के माध्यम से जीवन का सत्य समझना ही फिल्म का उद्देश्य है। इसी में कथा आगे बढ़ती हुई फिल्म को अंत तक ले जाती है। एक तरह से देखें तो यथार्थ के नाम जीवन का वीभत्स रूप सामने लाने वाले निर्देशकों के लिए भुवन शोम एक सीख साबित हुई। दर्शकों को भी समझ आया कि भारतीय समस्या पर ऐसी अर्थपूर्ण फिल्मों का निर्देशन भी हो सकता है-"हिंदी सिनेमा के पूरी तरह से हॉलीवुड की फिल्मों की नक़ल बन जाने की प्रवृति पर 'भुवनशोम' के आगमन ने रोक लगा दी। सन 1969 में भुवनशोम बना कर मृणाल सेन ने भारतीय सिनेमा में एक नए आन्दोलन का शुभारम्भ किया। इसके पूर्व वणकुंद्रे शांताराम, राजकपूर, विमलराय, गुरुदत्त और ऋषिकेश मुखर्जी व्यावसायिक सिनेमा के ढांचे में रहकर ही अच्छी फ़िल्में बनाने की संभावनाएं तलाशते थे।"5 भुवन शोम के अलावा मृणाल सेन हिंदी और बांग्ला में इच्छा पुराण, एक अधूरी कहानी, कलकत्ता 1971, कोरस, मृगया, ओका उरी कथा, एक दिन प्रतिदिन, आकालेर सन्धाने, खारिज, खंडहर, जेंनसिस, एक दिन अचानक, महापृथ्वी, अन्तरीन जैसी फिल्मों का निर्माण किया। 'मृगया' ने हिंदी सिनेमा को मिथुन चक्रवर्ती के रूप में एक ऐसा अभिनेता दिया जो निम्न तबके के समाज का महानायक बनकर उभरे। मृगया को कई राष्ट्रीय पुरस्कार और सम्मान मिले।

'समांतर' सिनेमा को हिंदी सिनेमा में मजबूती प्रदान करने वाले फ़िल्मकारों में मणि कौल का नाम सम्मान से लिया जाता है। सत्तर के दशक में साहित्य और सिनेमा के बीच में पुल बन कर दोनों को एक दूसरे से जोड़ने वाले मणि कौल का सिनेमाई शास्त्र अपने समकालीनों से बिलकुल अलग है। मोहन राकेश की कहानी पर उनके द्वारा निर्मित फिल्म 'उसकी रोटी' (1969) ने 'भुवन शोम' के साथ ही बड़ी उपलब्धि प्राप्त की। मणिकौल की फिल्मों में साहित्यिक तत्व भरपूर मिलते हैं। देशभर के साहित्यकारों की महत्वपूर्ण कृतियों पर फिल्मों का निर्माण कर उन्होंने साहित्य को पुनर्जीवित किया। 'उसकी रोटी' के अलावा 'आषाढ़ का एक दिन', 'दुविधा', 'घासीराम कोतवाल', 'सतह से उठता आदमी', 'नज़र', 'इडियट', 'द क्लाउड डोर', 'नौकर की कमीज़', 'बोझ' 'ध्रुपद', 'माटी मानस', 'सिद्धेश्वरी' जैसी फिल्मों में उन्होंने अमानवीय होते समाज का चेहरा दिखाया। उनकी फिल्मों में भारतीय विपन्नता और सामाजिक विसंगति को बहुत गहराई से प्रस्तुत करती हैं। विजय दान देथा की कहानी पर बनी फिल्म 'दुविधा' (1974) के लिए उन्हें सर्वश्रेष्ठ निर्देशक एवं राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार मिला। 1989 में 'सिद्धेश्वरी' फिल्म को 'सर्वश्रेष्ठ वृत्तचित्र' (चलचित्र) का सम्मान प्राप्त हुआ। मणि कौल का सिनेमाई सफर व्यक्ति के आंतरिक यात्रा का मार्ग प्रशस्त करता है। उन्होंने अपनी फिल्मों में कभी भी गुणवत्ता से समझौता नहीं किया। सामाजिक सरोकार उनके लिए पहले जरूरी थे। अपनी रचनात्मक ऊर्जा को वह व्यावसायिक नहीं होने देना चाहते थे-"मणिकौल हिंदी सिनेमा के उन फिल्मकारों में हैं जो अपनी रचनात्मकता में किसी किस्म का समझौता करना पसंद नहीं करते। उन्होंने अपनी सृजनधर्मिता को हिंदी सिनेमा के परंपरागत स्वरूप से बिल्कुल अलग हटकर स्थापित किया। वे सिनेमा को साहित्य के स्तर पर और उससे भी आगे जाकर कविता की तरह अमूर्त रूप में प्रस्तुत करते हैं। मोहन राकेश की लघुकथा पर आधारित फिल्म यद्यपि दर्शकों तक नहीं पहुँच सकी पर इसने सिनेमा के अध्येताओं के लिए मार्गदर्शक की भूमिका निभाई। 'उसकी रोटी' में फिल्मकार अपना मंतव्य काव्य-बिम्बों के द्वारा उकेरता है। इसके पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्क-वितर्क हुए। किसी ने इसे कला का अद्वितीय नमूना निरूपित किया तो किसी ने इसे निरर्थक अभिव्यक्ति की संज्ञा दी।"6

मणि कौल हिंदी ही नहीं भारतीय सिनेमा के मर्मज्ञ विद्वान थे। वह अच्छे साहित्य की पहचान रखते थे। उनकी फिल्में सामाजिक सरोकार की पक्षधर हैं। वह समांतर सिनेमा के संस्थापक फ़िल्मकारों में आते हैं। अपने समकालीनों के अलावा अपनी आने वाली पीढ़ी को भी प्रभावित करने वाले मणि कौल का सिनेमा भारतीय समाजशास्त्र को समझने की नई दृष्टि देता है।

सत्यजित रे का नाम भी समांतर सिनेमा के इतिहास में सम्मानपूर्वक दर्ज है। उनकी फिल्में भारत की गरीबी का नया चेहरा पेश करती हैं। पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा किए गए शोषण को उन्होंने करिश्माई ढंग से सिनेमा में प्रस्तुत किया। फिल्मों का केंद्र रहे, कोलकाता में 2 मई 1921 को जन्में सत्यजीत रे ने प्रेसीडेंसी कॉलेज से अर्थशास्त्र की पढ़ाई की। 1928 में प्रकाशित विभूतिभूषण बंधोपाध्याय बहुचर्चित उपन्यास 'पाथेर पांचाली' का बाल संस्करण तैयार करने में सत्यजीत रे की बड़ी भूमिका थी। इस उपन्यास से वह इतने प्रभावित हुए कि उस पर फिल्म बनाने के बारे में विचार करने लगे। लंदन में 'बाइसकिल थीव्स' फिल्म देखकर उनकी फिल्म बनाने की लालसा और प्रबल हुई। एकदम नई टीम के साथ 1952 में रे ने पश्चिम बंगाल सरकार के योगदान से 1955 में 'पाथेर पांचाली' तैयार कर ली जो बहुत सफल हुई। इस फिल्म को कई पुरस्कार और सम्मान प्राप्त हुए। लगभग तीन दर्जन फिल्मों का निर्माण करने वाले रे ने भारतीय सिनेमा को अपने विचारों ने प्रभावित किया। हिंदी में शतरंज के खिलाडी (1977) और सदगति (1980) जैसी हिंदी फिल्मों से उन्होंने भारतीय जनमानस को आंदोलित किया।

'समांतर' सिनेमा को सही मायने में श्याम बेनेगल ने गति प्रदान की। विज्ञापन फिल्मों से फिल्मी यात्रा आरंभ करने वाले श्याम बेनेगल संजीदा लेखक, निर्देशक और निर्माता हैं। 1973 में प्रदर्शित उनकी पहली फिल्म 'अंकुर' ने ही उन्हें स्थापित कर दिया। श्याम बेनेगल समांतर सिनेमा के पहले ऐसे निर्देशक हैं जिनकी फिल्मों में प्रतिरोध की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। दलितों के अंदर के आक्रोश को चिन्हित करने वाले श्याम बेनेगल भारतीय सिनेमा के समाजशास्त्र को बदलने वाले निर्देशक भी हैं। 'अंकुर' गांवों में शहर के हस्तक्षेप से बदलते परिवेश के कारण आपसी संघर्ष ही अंकुर की मूल संवेदना है। 'अंकुर' ने कुल 42 पुरस्कार जीते, जिनमें तीन राष्ट्रीय पुरस्कार भी शामिल है। इसके बाद श्याम बेनेगल ने 'निशांत (1975) और 'मंथन' (1976)' का निर्माण किया, 'मंथन' को राष्ट्रीय पुरूस्कार से सम्मानित किया गया। श्याम बेनेगल की 'मंडी', 'सुस्मन', 'कलियुग', 'जुनून' हरी भरी, आरोहण, निशांत, जूनून, त्रिकाल, भूमिका, सूरज का सातवाँ घोड़ा सरदारी बेगम, मम्मो और वैलकम टू सज्जनपुर जैसी फ़िल्में भी बेहद चर्चित रही। विशुद्ध कलात्मक फिल्में बनाकर श्याम बेनेगल ने हिंदी सिनेमा में नई धारा की शुरुआत की। भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने श्याम बेनेगल के बारे में कहा था कि- "उनकी फ़िल्में मनुष्य की मनुष्यता को अपने मूल स्वरूप में तलाशती हैं। इस प्रतिक्रिया का आधार था एक वृत्तचित्र-नेहरू। इसके निर्देशक थे श्याम बेनेगल। मजे की बात है कि इन्हीं बेनेगल ने आपातकाल के दौरान श्रीमती गाँधी की नीतियों की तीखी आलोचना की थी।"7 श्याम बेनेगल ने बड़े और छोटे पर्दे पर एक साथ काम करते हुए दोनों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। 'रामायण' और 'महाभारत', 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' जैसे धारावाहिकों ने आम जनता को जोड़ कर रखा। हिंदी सिनेमा में योगदान के लिए उन्हें पद्मश्री और पद्मभूषण से सम्मानित क्या गया। 2007 में उन्हें भारतीय सिनेमा का सर्वोच्च पुरस्कार दादा साहब फाल्के भी मिला।

श्याम बेनेगल के बाद गोविन्द निहलानी समांतर सिनेमा के बड़े नाम के रूप में जाने जाते हैं। दलित समाज से निकलकर अनुभूति के आधार पर दलित जीवन को पर्दे पर लाने वाले गोविंद निहलानी अपनी पहली ही फिल्म-'आक्रोश' (1981) में आदिवासियों के जीवन-संघर्ष को लेकर पर्दे पर उतरे। आक्रोश को प्रतिरोध का सिनेमा के रूप में याद किया जाता है। दलित-आदिवासी जीवन को इतनी सच्चाई से पहले कभी अभिव्यक्त नहीं किया गया था। आक्रोश के अलावा 'अर्धसत्य', 'विजेता', 'आघात', 'पार्टी' ,'द्रोहकाल' जैसी फिल्मों में निहलानी ने शासन, प्रशासन, सत्ता, पुलिस, आतंकवाद को विषय-वस्तु बनाकर नए तेवर और नई भाषा ईज़ाद की। उनकी फिल्मों का मुख्य स्वर प्रतिरोध है। उनके नायक आम जीवन की समस्या के लिए संघर्ष करते नजर आते हैं। अपनी वैचारिकी से फिल्म आलोचकों और समीक्षकों का ध्यान खींचने वाले निहलानी हिंदी सिनेमा के निर्णायक निर्देशकों में अपनी उपस्थिति दर्ज़ करते हैं।

इन निर्देशकों के साथ ही बासु चटर्जी, अडूर गोपालकृष्णन, कुमार साहनी, अवतार कौल, गिरीश कर्नाड, प्रकाश झा सई परांजपे, अमोल पालेकर, महेश भट्ट जैसे निर्देशकों में आम जनता के अंदर के आक्रोश को न केवल स्वर दिया बल्कि उसे शासन-प्रशासन तक पहुंचाने का भी कार्य किया। हालांकि धीमी गति, महीन बुनावट और अतिदार्शनिकता के कारण समांतर सिनेमा असफल हुआ क्योंकि उन्हीं से संवाद करने में असफल हुआ जिनके लिए बनाया जा रहा था। मात्र दस वर्षों में ही समांतर सिनेमा बनना बंद हो गया। वर्षों बाद तिग्मान्शु धूलिया, अनुराग कश्यप, दिवाकर बनर्जी, नंदिता दास जैसे निर्देशक फिर से यथार्थवादी फिल्मों का निर्माण कर रहे हैं- "हिंदी सिनेमा जहां अस्सी के दशक के बॉलीवुड को काफी पीछे छोड़ चुका है, वहीं पिछले दशक में अन्य भारतीय भाषाओं में भी लगातार कई अच्छी फिल्में आई हैं। ऐसा नहीं कि बॉलीवुड में फार्मूलाबद्ध, मसाला फिल्में नहीं बन रही हैं। एक दर्शक वर्ग के लिए इन फिल्मों का अपना सांस्कृतिक-सामाजिक महत्त्व है। लेकिन पिछले दशक में कई नए निर्देशकों ने परंपरागत तौर पर फिल्मी कहानियों से इतर अपनी फिल्मों में भारतीय समाज के यथार्थ को नए सिरे से पकड़ने की कोशिश की है। एक तरह से इसे सत्तर के दशक में विकसित समांतर सिनेमा का विस्तार कहा जा सकता है। यह अनायास नहीं है कि समांतर सिनेमा के पुरोधा मणि कौल आज के निर्देशक अनुराग कश्यप, इम्तियाज अली, गुरविंदर सिंह की प्रशंसा करते थे।"8 यथार्थवादी सिनेमा ने ही भारतीय सिनेमा को विश्व स्तर पर बहस का केंद्र बनाया। समाज और जीवन नग्न यथार्थ दिखाने वाले इन फ़िल्मकारों ने व्यावसायिक सिनेमा के समक्ष कई तरह की चुनौतियाँ उत्पन्न की। बड़े बजट की फिल्मों के स्थान पर कम से कम पैसे में फिल्मों का निर्माण कर पैसा भी कमाया और पुरस्कार-सम्मान भी। ओमपुरी, फारुख शेख, नसीरुद्दीन शाह, अमोल पालेकर, उत्पल दत्त, नाना पाटेकर जैसे अभिनेता और शबाना आज़मी, स्मिता पाटिल, दीप्ति नवल, नंदिता दास जैसी सशक्त अभिनेत्रियों ने इसी धारा से अपना स्थान बनाया।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. भौमिक, अशोक, सत्तर का सिनेमा और गुलजार, जनसत्ता, 8 अगस्त 2017
2. भौमिक, अशोक, सत्तर का सिनेमा और गुलजार, जनसत्ता, 8 अगस्त 2017
3. सिन्हा, प्रसून, भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-138
4. भुवन शोम
5. अनुपम,ओझा, भारतीय सिने-सिद्धांत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-90
6. भूषण रवि, 'हिंदी और भारतीय सिनेमा की एक नई पहचान', वसुधा -81, पृष्ठ-323
7. https://bharatdiscovery.org/india
8. दास, अरविंद, सफर में समांतर सिनेमा, जनसत्ता, 9 दिसंबर 2016

✦✦✦

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी विभाग), डॉ. बी.आर अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली – 110006, मोबाइल –9871907081

हिंदी सिनेमा और किसान

- डॉ. भास्कर लाल कर्ण

> ***कालांतर में गिने-चुने कुछ चर्चित फ़िल्में आती हैं जिसका ज़िक्र शुरू में किया जा चुका है और जिसमें किसान जीवन की समस्याओं को गहराई से लेने की कोशिश भी की गई है और जिसकी वजह से उन्हें आज भी याद किया जाता है एवं यथासंभव उसका मीडिया में प्रदर्शन भी होता है। लेकिन इनकी संख्या इतनी कम है कि चिंता स्वाभाविक है। यूँ तो 1940-55 के बीच फ़्रांसीसी सिनेमा के माध्यम से कम लागत की फ़िल्मों, शौक़िया फ़िल्मों या छोटी फ़िल्मों का आंदोलन उभर कर आया था8 लेकिन इसके बाद भी हिंदी सीने-जगत में किसान-यथार्थ पर आधारित सिनेमा में कुछ भी ख़ास नहीं जुड़ पाया।***

सिनेमा मूलतः सामूहिक कला की आधुनिक विधा है। जो लगभग 20वीं सदी से अब तक के समय को विविध परिप्रेक्ष्य में बहुआयामी तरीके से समेटती रही है। समय में आ रहे बदलावों और करवटों को उजागर करते हुए चिह्नित करने की कोशिश भी इसी के माध्यम से की जाती रही है। साथ ही विज्ञान और तकनीकी में आ रहे तीव्र परिवर्तनों का सिनेमा पर पड़ने वाले असर को आसानी से देखा जा सकता है। अर्थतंत्र और बाज़ार के साथ भी इसका संबंध सर्वविदित है। जिससे अक्सर सिनेमा के मुख्य धाराओं की दिशा तय होती है। अकारण नहीं है कि वैश्विक स्तर पर सिनेमा जगत में आने-जाने वाली विविध धाराओं का विमर्श देखने को मिलता है। सीने-जगत की समीक्षात्मक पाठ-कुपाठ भी इसी से संबंधित रहता है।

हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा इससे अलग नहीं है। समय की गति में शामिल हो मनुष्य जीवन के तमाम पक्षों को बड़े परदे पर उकेरने की कोशिश के साथ इसमें राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक आदि विषयों की व्यापकता बनी रही है। कथाओं में प्रेमकथा तो अनंत विषय बनकर हिंदी सिनेमा के शीर्ष पर सदैव विद्यमान रहती आई है लेकिन किसान केन्द्रित हिंदी सिनेमा पर नज़र डालते हैं तो नायक-नायिकाओं की प्रेम कथाओं के बरक्स इसका शतमांश भी नहीं मिल पाता है। यूँ तो किसान केन्द्रित हिंदी सिनेमा का ज़िक्र होते है कुछ फिल्मों का नाम अनायास उभर आता है। मसलन, दो बीघा ज़मीन, मदर इंडिया, लगान, पीपली लाइव, मंथन, गोदान, उपकार, कड़वी हवा, किसान आदि। लेकिन हिंदी सिनेमा की व्यापक परिधि में ये कुछ गिने-चुने नाम अपवाद की तरह ही है।

हिंदी सिनेमा के आरंभिक दौर की भी पड़ताल करने पर मायूसी ही हाथ आती है। सन 1927 तक भारत के लगभग 85 प्रतिशत सिनेमा हॉल में हॉलीवुड की फिल्मे दिखाई जा रही थी जो सेक्स और अपराध से लबरेज थी।1 बाक़ी के 15 प्रतिशत में किसान केन्द्रित फ़िल्मों में 1925 में बनी एक फ़िल्म का ज़िक्र इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन सिनेमा में पढ़ने को मिलता है। जिसमें समसामयिक किसान जीवन को परदे पर चित्रित किया गया।2 दरअसल बाबू राव पेंटर ने मूक युग में 'सावकारी पाश' फ़िल्म में एक भारतीय किसान की ऋणग्रस्तता और रक्तशोषक साहूकार का अत्यंत ही जीवंत चित्रण किया। भोले-भाले किसान साहूकारों के जाल में फंस कर अपनी ज़मीन से उखड़ रहे थे। किसानों को आर्थिक मजबूरी में शहर की तरफ पलायन और मजदूर बनने की त्रासदी को परदे पर बहुत ही मार्मिक ढंग से उकेरा गया। भारत मूलतः किसानों का देश है, अतः किसान जीवन को पहली बार परदे पर चित्रित करने वाली 'सावकारी पाश' को पहली भारतीय फ़िल्म कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी।3 स्पष्ट है कि भारतीय परदाजगत पर इससे

पहले किसी अन्य फ़िल्म का ज़िक्र नहीं मिलता है जो किसान जीवन पर केंद्रित हो।

इसके बाद भी किसान केन्द्रित सिनेमा का उल्लेख ना के बराबर ही मिलता है। अर्देशिर ईरानी द्वारा निर्मित एवं सआदत हसन मंटो द्वारा लिखित पटकथा और संवाद पर आधारित 1937 में आई फ़िल्म 'किसान कन्या' की जानकारी तो मिलती है लेकिन पहली स्वदेशी रंगीन फ़िल्म के संदर्भ में, ना कि किसान केंद्रित कथावस्तु के संदर्भ में।4 फिर 1940 में बनी महबूब खान की फ़िल्म 'औरत' और 1946 में बनी ख्वाज़ा अहमद अब्बास की फ़िल्म 'धरती के लाल' का उल्लेख किया जाता है। 'औरत' को महबूब खान की ही 1957 में आई 'मदर इंडिया' के मूल के रूप में चर्चा का विषय बनाया जाता है। लगभग एक जैसी कहानी और 'सुखीलाल' नामक शोषक चरित्र को रेखांकित किया जाता है। क्योंकि सुखीलाल किरदार को दोनों ही फ़िल्म में कन्हैया लाल जैसे कलाकार ने निभाया है। दूसरी तरफ 'धरती के लाल' का ज़िक्र केवल किताबों तक सिमट के रह गया है। इसके बावजूद कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सेंसरशिप को बहुत ज़्यादा सख्त कर दिया गया था।5 ऐसे में 'धरती के लाल' का बनना और दूसरे मुल्कों में खासकर यू. एस. एस. आर. में बहुत सराहना हासिल कर लेना महत्वपूर्ण हो जाता है।6 उक्त संदर्भ में किसान जीवन पर केन्द्रित इस फ़िल्म पर विशेष चर्चा होनी ही चाहिए। जबकि आज के समय में ये मीडिया से भी ओझल है।

1943 के बंगाल में आए भयानक अकाल को आधार बनाकर 1946 में आई 'धरती के लाल' की पटकथा, संवाद, निर्माता और निर्देशक ख्वाज़ा अहमद अब्बास थे। के.ए.अब्बास मेमोरियल ट्रस्ट की अध्यक्ष और प्रसिद्द लेखिका डॉ. सैय्यदा हमीद ने बताया कि इप्टा के महासचिव होने के नाते बिजन भट्टाचार्य का नाटक 'नबान्न' देखने के लिए जब अब्बास साहब 1943 में बंगाल गए तो वहाँ उन्होंने अकाल की वजह से पलायन करके कलकत्ता आए भीख माँगते किसानों और भूख की वजह से कचरे के ढेर से खाना तलाशते बच्चों को सड़कों पर गरीबों की लाशों तथा उसके बरक्स शानदार होटलों में चलते अमीरों के उत्सवों और जश्नों को देखा जिससे विचलित होकर और इसी विषय पर बने नाटक 'नबान्न', 'अंतिम अभिलाषा' और कृष्ण चन्दर की कहानी 'अन्नदाता' से प्रेरित होकर 'धरती के लाल' फिल्म बनाने की योजना बनाई। भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) के संयोजन से बनी इस फ़िल्म में संगीत रवि शंकर ने दी और गीत अली सरदार जाफ़री, प्रेम धवन, नेमीचंद जैन और वामिक़ ने लिपिबद्ध किया। ये ना केवल इप्टा की पहली फिल्म थी बल्कि बलराज साहनी, शम्भु मित्रा, दमयंती साहनी, तृप्ति भादुड़ी मित्रा, अनवर मिर्ज़ा, उषा दत्त, हमीद बट्ट, नाना पलसीकर, जोहरा सहगल के फिल्म में अभिनय की भी पहली फिल्म थी।7

किसान केन्द्रित फ़िल्म 'दो बीघा ज़मीन' से विशेष पहचान विकसित करने वाले बलराज साहनी ने केवल इस फ़िल्म में ही अपनी पत्नी दमयंती साहनी के साथ अभिनय किया जो सिनेमा में भी पत्नी का किरदार निभाती हैं। किसान जीवन के यथार्थ को इस फ़िल्म में गंभीरता से उकेरने की कोशिश की गई है। यथार्थपरक दृश्य और संकेतों को कुशलता से समायोजित किया गया है। गाय का नाम लक्ष्मी रखा जाना इसका दिलचस्प उदहारण है। परिवार में विवाह को भी खेती और फसल की स्थिति पर निर्भर बताने की कोशिश की, साथ ही यह दिखाया कि खेती पूर्णतः प्रकृति की मेहरबानी पर निर्भर होती है। इस फ़िल्म में किसान से फसल के खरीद का भाव और उसी फसल का महाजन या व्यापारी या बाज़ार से किसानों तक पहुँचने की भयानक विसंगति को सामने लाकर रख दिया गया है। अनाज के दस रूपये मन से पचपन रूपये मन तक की विडंबनात्मक यात्रा दिखाई गई है। इस फ़िल्म में धर्म और जाति से परे सामाजिक पारस्परिकता पर बल दिया गया है लेकिन विपन्नता की भयावहता मुखर है। जमाख़ोरी, कालाबाज़ारी करने वाले शोषक पात्र मँहगे अनाज के लिए उधार भी उपकार की तरह देते हैं और इस प्रक्रिया में 19 रुपए के उधार पर 29 रुपए लिख कर अंगूठा लगवाया जाता है।

फ़िल्म में पलायन करते वे लोग हिंदू या मुसलमान नहीं बल्कि मेहनतकश और किसान लोग थे। फ़िल्म का अंत भी नग्न यथार्थ की तरह नहीं बल्कि सकारात्मक आशावाद पर होता है जिसमें सभी किसान साझी खेती करते हुए एकदूसरे के दुःख-सुख साझा करते हैं और विपत्तियों से मिल-जुलकर पार पाते हैं। फ़िल्म के आरम्भ में ही रमज़ान और प्रधान जैसे चरित्र खेती में बीज साझा करते हैं। आरम्भ का ये भावात्मक दृश्य अंत में साझा खेती के विकल्प की तरह प्रस्तुत किया जाता है। फ़िल्म में साझेदारी के साथ जीने का यह अंत एक वैकल्पिक विधान की परिकल्पना के रूप में लिया गया है। फ़िल्म के आख़िर में एक समूह गायन भी इसी से जुड़ा है जिसे मेले में दिखाया गया है। इस गीत में मिथकीय देवी-देवताओं का जयकार नहीं किया जाता है बल्कि – 'जय धरती मैया जय हो / जय पालनहारी जय हो' गाया जाता है जो कला और संस्कृत में भी भौतिकवादी विकल्प भरने की कोशिश की तरह ही है।

कालांतर में गिने-चुने कुछ चर्चित फ़िल्में आती हैं जिसका ज़िक्र शुरू में किया जा चुका है और जिसमें किसान जीवन की समस्याओं को गहराई से लेने की कोशिश भी की गई है और जिसकी वजह से उन्हें आज भी याद किया जाता है एवं यथासंभव उसका मीडिया में प्रदर्शन भी होता है। लेकिन इनकी संख्या इतनी कम है कि चिंता स्वाभाविक है। यूँ तो 1940-55 के बीच फ्रांसीसी सिनेमा के माध्यम से कम लागत

की फ़िल्मों, शौक़िया फ़िल्मों या छोटी फ़िल्मों का आंदोलन उभर कर आया था8 लेकिन इसके बाद भी हिंदी सीने-जगत में किसान-यथार्थ पर आधारित सिनेमा में कुछ भी ख़ास नहीं जुड़ पाया।

बहरहाल जिस तरह हिंदी साहित्य में किसान तो है पर 'गोदान' या 'मैला आँचल' जैसा मुखर नहीं है उसी तरह हिंदी सिनेमा में किसान तो है पर 'धरती के लाल', 'दो बीघा ज़मीन', 'मदर इंडिया' या 'मंथन' जैसी प्रधानता नहीं है। प्रधानता देने की कोशिश भी की गई तो इतनी वायवीय कि दर्शकों को पचाता नहीं। विषय लिया भी जाता है तो उसे इतने सीमित दायरे में समेट देते हैं कि उसमें एक उबाऊपन महसूस किया जाता है। मसलन 1974 में आई फ़िल्म 'किसान और भगवान'। ऐसा भी नहीं है कि हिंदी सिने-जगत में किसानों का अकाल है। मूल या केन्द्रीय विषय बन कर भले कम या ना के बराबर आये लेकिन सहायक अंग या पृष्ठभूमि बनकर प्रयोग की तरह आते हुए अधिकतर फ़िल्मों में आसानी से देखे जा सकते हैं। ध्यान से देखें तो इस रूप में भी विविधता कम दुहराव ज़्यादा है।

छोटे इतिहास में दुहराने की परम्परा रही है। सीने-जगत में भी दुहराने की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। देखा जाए तो दुहराने के तरीक़ों पर भी कलात्मक आवरण रहा है। इसमें वर्तमान परिप्रेक्ष्य का भी कई तरह से दबाव रहता है। वैचारिक और तकनीकी के अलावा दर्शकों की रुचि का अनुमानित आँकलन भी इसमें समाहित है। इस संदर्भ में देखें तो प्रेमपरक और हिंसात्मक फ़िल्मों के दुहराव की तरह किसान चरित्रों को भी जी भर के दुहराया गया है।9 रूप, रंग, वस्त्र, भाषा आदि सब कुछ पूर्वनिश्चित रहता है। इस तरह एक टिपिकल ढांचा भी निश्चित किया जा चुका है। और इसी तरह किसान जीवन के यथार्थ को समय से मुक्त कर उसके एक प्रारूप को रूढ़ कर दिया गया है। 1969 में आई 'धरती कहे पुकार के' जैसी फ़िल्म को सांकेतिक उदाहरण की तरह लिया जा सकता है।

यूँ तो हिंदी फ़िल्मी गीतों के संसार को उसके बड़े व्यापक और विविध होने के कारण अक्सर ये कह जाता है कि हर परिस्थिति, भाव, विषय और दशा आदि पर हिंदी सिनेमा में गीत मिल ही जाते हैं। परंतु हिंदी सिनेमा में किसान केंद्रित गीतों पर भी ध्यान दें तो भारतीय कृषि प्रधान देश की सिनेमाई अभिव्यक्ति में किसान-जीवन, खेती-खलिहान और उसकी समस्याओं से जुड़े गीत ना के बराबर हैं। वे फ़िल्में जिनकी पटकथा किसान की समस्याओं, उनके जीवन संकटों या खेती-ज़मीन से जुड़ी भी हैं, उनमें भी अधिकांश गीत भाग्य, ईश्वर, भय, अवसाद, जीवन-दर्शन, प्रेम, विवाह और उत्सव आदि पर मिल जाएँगे, लेकिन किसान पर पड़ रही मंहगाई की मार, मौसम की मार, महाजनी और साहूकारी की मार, सत्ता और तंत्र की मार जिस निजी और सामूहिक पीड़ा को जन्म देती है उससे सम्बंधित बहुत गाने हिंदी सिनेमा में नहीं लिखे गए। कुछ अपवादों को छोड़ कर ज़्यादातर किसान जीवन के संघर्ष और समस्याओं पर बने गीतों को भाग्यवादी नज़रिये से ही देखा और लिखा गया है। इसीलिए आसानी से कह दिया जाता है कि 'दुनियाँ में हम आए हैं तो जीना ही पड़ेगा' .... 'ग़म जिसने दिए हैं वही ग़म दूर करेगा'। और ये गाने वाली किरदार 'मदर इंडिया' बन जाती है। लेकिन जो किसान किरदार भगवान और शैतान से अलग कर खुद को तन का ग़रीब और मन का धनवान वाला इंसान मानते हुए कहता है कि 'फिर भी हमारे दम से धरती की लाज है' उसे फ़िल्म के अंत में मरना पड़ता है। फ़िल्म 'गाइड' में भी किसान की माँग अल्लाह से ही 'मेघ दे, पानी दे' के रूप में सुनने को मिलता है। इस तरह के गीतों के दो कारण स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। एक तो भारतीय कृषि व्यवस्था का पूरी तरह मौसम पर निर्भर होना। और दूसरी धार्मिक और आस्थामूलक वातावरण में भारतीय ग्रामीण जनमानस की बौद्धिकता का विकसित होना। लेकिन इसका एक सम्बन्ध सत्ता-तंत्र और व्यवस्था-तंत्र से भी है इसके प्रति ना किसान सचेत हो पाए, ना सिनेमा में कथानक और ना ही गीतों के बोल। यूँ तो मज़दूर केंद्रित फ़िल्मों में सत्ता-तंत्र के साथ उसकी टकराहटों पर कुछ गीत मिल जाते हैं पर किसान केंद्रित गीतों में दिखाई नहीं देता। यहाँ एक सवाल ये भी उठता है कि क्या सीने-जगत में किसान और मज़दूर को एक कर के देखा जा सकता है? स्वाभाविक है इसका जवाब ना ही दिया जाएगा। क्योंकि मज़दूर पूरी तरह मालिक पर निर्भर है लेकिन किसान अपनी भूमि का मालिक स्वयं है। वह सहयोग की कामना कर सकता है पर दया-करुणा की नहीं। उस अन्न उगा कर भूखे सोने वाले किसानों का यथार्थ गीतों में भी उसी तरह है जैसे हिंदी सिनेमा में किसानों के जीवन की पटकथा। चंद अपवादों की तरह बस।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. पृष्ट – 21, राधू कर्माकर, कैमरा मेरी तीसरी आँख, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, संस्करण – 2010
2. पृष्ट – 230, राजाध्यक्ष, आशीष और विल्मेन पॉल, एनसाईक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन सिनेमा, आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, संस्करण – 1995
3. पृष्ट – 100, डॉ० अनुपम ओझा, भारतीय सीने-सिद्धांत, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण – 2002
4. पृष्ट – 104, श्रीधर शास्त्री, भारतीय फ़िल्म उद्योग, किसलय मंच प्रयाग, संस्करण -1969
5. पृष्ट – 57, संपा०-गुलज़ार, गोविंद निहलानी, सैबल चटर्जी, एनसाईक्लोपीडिया ऑफ़ हिंदी सिनेमा, एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, संस्करण – 2003
6. पृष्ट – 59, वही
7. https://www.amarujala.com/photo-gallery/columns/blog/bengals-dearth-and-khwaja-ahmed-abbas-movie-dharti-ke-lal
8. पृष्ट – 11, कुंवर नारायण, लेखक का सिनेमा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 2017
9. Page - intro, Nandini Bhattacharya, Hindi Cinema : Repeating the Subject, Routledge, New York, First Edition 2013

✦✦✦

127D, तृतीय तल, प्लेटिनम इनक्लेव, सेक्टर 18, रोहिणी, नई दिल्ली, 110089, फोन - 9891266601,
ई मेल bhaskarmlnc@gmail.com

जनवादी चेतना और आधुनिक गीति-रचना

-अभीप्सा पटेल

जनवाद का रूप आपातकाल के दौरान ही दिखलाई पड़ा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जनवादी प्रवृत्ति तो भारतीय समाज में बहुत पहले से ही चली आ रही थी। समतावादी समाज की परिकल्पना में जब कवि पुष्पदंत कहते हैं- "ष रोउण सोउण सेउ बिसाउ, किलेसुण कोउ बिराउ"[13] – यानी जहाँ न रोग हो, विषाद हो, न ही क्लेश और विराग हो, समता, सद्भाव वहीँ है— तो निश्चित रूप से ऐसी भावना जनवाद की सीमाओं को ही स्पर्श करता है। कबीर, तुलसी आदि मध्यकालीन संतों-भक्तों की रचनाओं से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जन-पोषक थे। इसी तरह आधुनिक साहित्य में किसानों, श्रमिकों के प्रति सहानुभूति रखते हुए उनके अधिकारों की मांग तेज हुई- "रहो न हिन्दू संकीर्ण, न हो स्वयं ही जर्जर-जीर्ण/बढ़ो, बढ़ाओ अपनी बांह, करो अछूत जनों पर छांह।"[14]

जनवाद के मूल में स्थित 'जन' शब्द समूहवची है। प्राचीन भारतीय वांग्मय में भी एक समूह रूप में 'जन' की प्रतिष्ठा रही है। यानी प्रारंभ में 'जन' शब्द को व्यापक सदर्भों में देखा जाता था। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में 'जन' शब्द का अर्थ होता है- उत्पन्न होना। इसी संदर्भ में कहा जाता है- "जनी प्रादुर्भावे जायते - इति जन: ।"[1] हिंदी शब्दसागर में 'जन' के अनेक अर्थ दिए गए हैं; यथा- लोक, लोग, प्रजा, देहाती, जाति, वर्ग, समूह आदि।

लेकिन यहाँ हमने इन अर्थ-भेदों के बदले 'जन' का अर्थ- मनुष्य-मात्र के लिए ग्रहण किया है, जिसमें 'लोक' और 'समूह' सब समाहित हो जाते हैं। वैसे यजुर्वेद में- जनों का राज्य के अर्थ में- 'जानराज्य'[2] शब्द का प्रयोग मिलता है। भगवतगीता में श्रीकृष्ण को 'जनार्दन'[3] सम्बोधित किया गया है। दूसरी बात यह कि 'जन' का एक अर्थ बहुवचन के रूप का भी द्योतक है; यथा- भक्तजन, गुरुजन, दासजन अथवा देवजन'[4] आदि। इसी तरह 'लोक' के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। वस्तुतः 'जन' और 'लोक' व्यापक अर्थ में एक ही अर्थ-संदर्भ के वाहक हैं।

आज कला और साहित्य में विशेषत: मार्क्सवादी शब्दावली में 'जन' को 'सर्वहारा' अथवा 'श्रमिक' का पर्याय माना जाता है। इसी से आधुनिक साहित्य में 'जनवाद' शब्द का प्रयोग होने लगा है। लेकिन श्री विजयदेव नारायण साही ने अपने एक निबंध में 'जन' शब्द के ऐतिहासिक और विचारधारात्मक प्रयोग के संबंध में लिखा है कि "सबसे पहला प्रश्न 'जन' शब्द को ही लेकर उठता है, क्योंकि इंद्रजाल का एक बड़ा भाग इस 'जन' के ही तात्पर्य में निहित है। रूसो ने जब बड़े जोर-शोर से दार्शनिक एवम् सामाजिक चिंतनधारा से इस 'जनसाधारण' की अवतारणा की तभी उसमें रहस्यवाद के कण मौजूद थे, इतना तो मार्क्स और उनके अनुयायी भी स्वीकार करते हैं। बाद में चलकर, कम-से-कम यूरोप में यह 'जन' दो वर्गों में बंट गया। मार्क्स ने स्पष्टीकरण के नाम पर सर्वहारा वर्ग और उसके 'जन' होने की घोषणा की। यह सर्वहारा वर्ग 'जन' क्यों है- इसका प्रमुख कारण मार्क्स ने उसकी बहुसंख्या नहीं बतलाया।....मार्क्स के अनुसार, कतिपय ऐतिहासिक नियम, जिनकी विवेचना मूलतः दार्शनिक है, सर्वहारा वर्ग के सिर पर 'जन' का सेहरा बांधने के लिए जिम्मेदार है। इन नियमों के अनुसार सर्वहारा समस्त जन के 'ऐतिहासिक उत्तरदायित्व' का वहन करता हुआ 'जन' का प्रतीक बन जाता है।....आज 'जन' का अर्थ सर्वहारा, किसान वर्ग, निम्न-मध्यवर्ग, राष्ट्रीय पूँजीपति और अब तो हर उस व्यक्ति, वर्ग अथवा संस्था से लिया जाने लगा है जो कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत रूस के पक्ष में है।"[5] लेकिन आज समाज से उपेक्षित व्यक्ति अथवा वर्ग के लिए ही 'जन' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है जिसका संकेत ऊपर हमने किया है। दूसरे शब्दों में, मानव-समाज के सामान्य और उपेक्षित वर्ग को महत्त्वपूर्ण मानकर उस वर्ग की उन्नति की कामना करने वाली प्रवृत्ति ही जनवादी प्रवृत्ति है। जनवादी दर्शन के अनुसार संसार के सुख-साधनों पर व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष के एकाधिकार के परिणामस्वरूप अन्य

व्यक्ति अथवा वर्ग अपने नैसर्गिक अधिकारों से वंचित हो जाते हैं। इससे मनुष्य की सामूहिक प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।

इस प्रकार 'जनवाद' सुख-साधनों के सम्यक और समान वितरण की मांग करता है तथा राष्ट्र की पूँजी पर सबका बराबर अधिकार मानता है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर जनवाद की निम्नलिखित विशेषताएं मानी जा सकती हैं-

(1) मानव-शक्ति में अटूट आस्था

(2) सामूहिक चेतना का भाव

(3) शोषितों के प्रति सहानुभूति तथा क्रांति का भाव और

(4) समानता का भाव।

जनवादी चेतना के केंद्र में मानव है और वह मानव ही को स्रष्टा के रूप में स्वीकार करता है। इसी बात की पुष्टि के लिए मार्क्स ने कहा है- "मनुष्य प्रकृति और अपने आप पर नियंत्रण करने वाली सत्ता है।"[6] इसी तरह इसमें सामूहिक चेतना और समाजवादी प्रणाली का समर्थन मिलता है जिसमें जन-सामान्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समता और स्वतंत्रता का पक्ष प्रबल हो सके। दूसरी बात, जनवादी विचारधारा में रूढ़ियों और कुरीतियों की निरर्थकता को और उसके सामाजिक विकास के बाधक रूप के विरुद्ध विद्रोह का भाव दिखलाई पड़ता है। वह सामंतों और संप्रदाय-निर्मित मंदिरों व धर्मों का भी खंडन करता है। जनवादी दृष्टिकोण से धर्म का अर्थ मनुष्य को मनुष्य के निकट लाना है, न कि मनुष्य के बीच भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की दीवारें खड़ी करके उन्हें एक-दूसरे से दूर करना। तात्पर्य यह है कि जनवादी चेतना में दलितों, पीड़ितों व वंचितों के प्रति सहानुभूति रखते हुए शोषणविहीन समाज और समतामूलक दृष्टिकोण की स्थापना व आकांक्षा ही है। अत: इसे बहुसंख्यक वर्ग के हितार्थ संघर्ष का आह्वान कहा जा सकता है। मध्यकालीन भारतीय संतों की धारणा- 'जनहिताय'- को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

यहाँ हम फिर कहना चाहेंगे कि समतामूलक आदर्श व्यवस्था और सहजता की परिकल्पना हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से रही है। वेदों की 'बसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना आज की जनवादी विचारधारा से बहुत कुछ समता रखती है। लेकिन समकालीन साहित्य में जिस जनवादी उभार की बातें आज की जाती हैं वह सन 1917 की रूसी क्रांति के पश्चात् ही एक आन्दोलन के रूप में उभर कर सामने आया था। लेकिन उसे अभी यह नाम नहीं मिला था। इस संबंध में विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए श्री विजयदेव नारायण साही कहते हैं- "कुछ दिन पहले तक इस 'जनवादी' शब्द से हिंदी के पाठक अपरिचित थे। अंग्रेजी या अन्य यूरोपीय भाषाओं में भी इसका या इसके पर्यायवाची शब्द का प्रचार बहुत पुराना हो, ऐसा नहीं है। स्पेनिश गृहयुद्ध के आस-पास साहित्य में 'पोपुलर फ्रंट' की जो लहर आयी, उसमें ही पहले-पहल इस जनवादी नारे का असली शोर सुनाई पड़ा। अधिकतर रिवाज अपने को 'प्रोग्रेसिव' या 'प्रगतिशील' कहने का था।"[7] आगे उन्होंने यह भी कहा कि "चीन की 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' के उदय के बाद हिंदी में आवेश के साथ 'जनवादी साहित्य' का रिवाज चला है।"[8] ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट होता है कि 20वीं शताब्दी के इस दूसरे दौर में देश में राष्ट्रवाद की जो लहर चली उसमें जनवादी प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जिस तरह आर्थिक विषमता बढ़ी और स्वतंत्रता की तीव्र आकांक्षा जगी वैसे ही उसी से सम्बद्ध जनवादी चेतना का उभार भी दिखलाई पड़ा। किन्तु वह अभी उस रूप में प्रसारित नहीं हो पाया था जिस रूप में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सरकारी नीति-नियम और बहुत कुछ राजनीतिक स्वार्थपरता से उपजा। वस्तुतः अप्रत्याशित ढंग से स्वतन्त्र भारत में जब प्रजातांत्रिक समानाधिकार तथा न्याय— ढोंग और स्वार्थ की बलि चढ़ गया तब लगने लगा कि भटकाव के सिवा हमें क्या मिला?

"मैं सोये हुए शहर की नस-नस में / किसी मासूम बच्चे की तरह / जिसकी माँ खो गयी है, / भटकता रहता हूँ / मेरी नयी आजादी और नयी मुसीबतें- उफ- / चीख और ठहाके एक साथ / मेरे कलेजे में उभरते हैं।"[9]

स्पष्ट है कि सन साठ के बाद जिस जनवाद की चर्चा जोरों पर हुई, उसके कारण थे- दिशाहीनता, राजनीतिक अराजकता, विचारशून्यता। स्वाभाविक रूप से समाज पर इसका व्यापक प्रभाव हुआ। नक्सलबाड़ी विद्रोह, तेलंगाना का किसान विद्रोह, कृषक-क्रांति— इन सबको इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए। इन आंदोलनों के माध्यम से मेहनतकश मजदूरों, श्रमिकों, किसानों ने अपने अधिकारों की मांग की। नक्सलबाड़ी के किसान-विद्रोह के प्रभाव से साहित्यिक क्षेत्र में होने वाले ऐतिहासिक परिवर्तन को रेखांकित करते हुए डॉ. नामवर सिंह कहते हैं- "सन 67 के बाद सही है कि एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और आक्रोश को एक स्पष्ट राजनीतिक दिशा मिली, जिसका संबंध नक्सलबाड़ी आन्दोलन से है।....दिशाहीन व्यवस्था विरोध का अंत हो गया और स्पष्ट राजनीतिक चेतना आयी।....उस आन्दोलन के दौरान नगरोन्मुख हिंदी साहित्य ग्रामोन्मुख किया गया, जो बहुत बड़ी देन है।"[10] आन्दोलन की इसी तारतम्यता में आपातकाल की घोषणा की गयी, जिसका हमने ऊपर संकेत किया है। सन 75 में आपातकाल की घोषणा की गयी, जो स्वतन्त्र भारत के इतिहास में बेहद चौकाने वाला था और शर्मनाक भी। क्योंकि इसकी आड़ में जनतांत्रिक मूल्यों को बेदर्दी से कुचला गया। इसकी निंदा नवयुवकों के साथ-साथ रचनाकारों ने भी की। धूमिल, अरुण कमल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रांगेय राघव, लीलाधर जगूड़ी आदि नए कवियों की रचनाओं में आतंक और दमन का विरोध स्पष्ट था, वहीं गीतकार भी इनके स्वर-में-स्वर मिला रहे थे। लेकिन इन दोनों काव्य-प्रवृत्तियों के कवियों के तेवर और तरीकों में पर्याप्त भिन्नता थी। आशा-निराशा, हर्ष-विषाद और जीवन-संघर्ष की रागात्मक संवेदना की अखण्ड रूप में लयात्मक अभिव्यक्ति जिस प्रकार गीतों में दिखलाई पड़ी, वैसी नयी कविता में नहीं। जनवादी गीतकारों ने जहाँ जनतांत्रिक भाव-बोध को व्यक्त करते हुए प्रतीक, रूपक जैसे माध्यमों का सहारा

लिया और जुझारू भाषा में बात की, नए कवियों ने उसके बदले विद्रोह को अपनाते हुए भी व्यंग्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया। गीतकारों ने स्पष्ट कहा कि जब 'इतिहास दुबारा' लिखा जायेगा तो यह अवश्य पूछा जायेगा-

"किस तरह आदमी बैल बनाया गया यहाँ? / औरत क्यों कटीपतंग रही मस्तानों की? / मानवता ने लाठी खायी है कहाँ-कहाँ? / इतिहास दुबारा लिखो, जुझारू भाषा में।"[11]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आपातकाल के बाद जब जनवादी गीत अपनी रचनात्मक प्रतिबद्धता के लिए पहचाने जाने लगे तो उसका उत्स निराला के उन गीतों में खोजे गए जिसमें उन्होंने मानवता के अवमूल्यन और सामाजिक परतंत्रता के विरुद्ध आवाज उठायी तथा जन-सामान्य की स्थिति देखकर कह उठे थे- "गीत गाने दो मुझे तो, वेदना को रोकने को।" जीवन-यथार्थ का यह रूप इस तरह प्रकट हुआ था-

"मानव जहाँ बैल घोड़ा है / कैसा तन-मन का जोड़ा है? / ...इस पर से विश्वास उठ गया, / विद्या से जब मैल छूट गया, / पक-पक कर ऐसा फूटा है / जैसा सावन का फोड़ा है।"[12] -(आराधना, 1952)

अत: जनवाद का रूप आपातकाल के दौरान ही दिखलाई पड़ा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जनवादी प्रवृत्ति तो भारतीय समाज में बहुत पहले से ही चली आ रही थी। समतावादी समाज की परिकल्पना क्रम में जब कवि पुष्पदंत कहते हैं- "ष रोउण सोउण सेउ बिसाउ, किलेसुण कोउ बिराउ"[13] – यानी जहाँ न रोग हो, विषाद हो, न ही क्लेश और विराग हो, समता, सद्भाव वहीं है— तो निश्चित रूप से ऐसी भावना जनवाद की सीमाओं को ही स्पर्श करता है। कबीर, तुलसी आदि मध्यकालीन संतों-भक्तों की रचनाओं से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जन-पोषक थे। इसी तरह आधुनिक साहित्य में किसानों, श्रमिकों के प्रति सहानुभूति रखते हुए उनके अधिकारों की मांग तेज हुई- "रहो न हिन्दू संकीर्ण, न हो स्वयं ही जर्जर-जीर्ण/ बढ़ो, बढ़ाओ अपनी बांह, करो अछूत जनों पर छांह।"[14] अथवा "जागो श्रमिको, बनो सचेतन।"[15] इन गीति-रचनाओं में सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति और उत्थान की कामना है।

आधुनिक जनवादी गीत की रचनात्मक विशिष्टता यह है कि वह 'अनुभव की समृद्धि' में अपने को विकसित पाता है। इसीलिए यहाँ आत्म-बोध अथवा वैचारिक निष्ठा आरोपित नहीं लगते, बल्कि जिंदगी के बीच उगकर और संवेदना की आँच में तपकर अभिव्यक्ति पाता है। निराला, जिनमें देश की उत्पीड़ित जनता के प्रति निश्छल सहानुभूति थी- जनपक्षीय प्रवृत्ति के मूलाधार थे। आधुनिक गीति-रचना में यही प्रवृत्ति विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि गीत आज की वादग्रस्त प्रतिबद्धता में छद्म आयातित मुहावरों वाली कविताओं के बीच लोक-गंध के साथ उपस्थित है। यही गीत के ताजगीपन, ठोस और भविष्य के प्रति दिशा-वाहक होने का प्रमाण भी है कि वह लोक-चेतना को केन्द्रीय धुरी पर प्रस्थित किया हुआ है। यहाँ मध्यवर्गीय कुण्ठा, संत्रास, अकेलेपन और अनास्था के बदले आस्था और परिवर्तन की कामना अधिक मुखर है- "सुनो तथागत/ एक नया युग आने वाला है/ धरती पर जो सूर्य उगेगा/ वह होगा/ अलग किसिम का" -(कुमार रवीन्द्र)।

कहना न होगा कि आधुनिक गीतों का जनवादी तेवर जीवनानुभूतियों का दर्पण है, जिसमें समाज के रूप-कुरूप दोनों चित्र प्रतिबिंबित हैं। युगगत चुनौतियाँ और जटिलताओं को यहाँ ईमानदारीपूर्वक व्यक्त किया गया है। इसमें कहीं-कहीं भाषागत और भावगत तेवर में कुछ 'कबीरापन' भी देखने को मिलते हैं; जैसे-

"आओ किसान मजदूरों आओ / रणभेरी का बिगुल बजाओ / करो लडाई फिर से जारी, जाने को बस जंजीरें हैं / पाने को है दुनियां सारी।"[16]

जनवादी गीतों के संदर्भ में एक तथ्य यह भी रेखांकनीय है कि यहाँ वैचारिकी को जितना महत्त्वपूर्ण माना जाता है उतना ही भाषा के सवाल पर भी बातें की जाती हैं। अक्सर यह चर्चा की जाती है कि "जनता की यह भाषा केवल 'कमिटमेंट' से, केवल प्रतिज्ञा से, केवल आकांक्षा से प्राप्त नहीं की जा सकती। वह सप्रयास लब्ध है। वह प्राप्त होती है- जीवन के बीच से। इसके लिए जरूरी है कि रचनाकार जन-जीवन से गहरे रूप से जुड़े।"[17] जन-जीवन की गहराई से जुड़ने का अर्थ है- भाषा की गहराई से जुड़ना। निस्संदेह, जनवादी गीतों की भाषिक-संरचना अथवा 'क्राफ्ट' में जो नयापन है उससे वह कथ्य को नये अंदाज में, नये अर्थ-सन्दर्भों में प्रस्तुत करता है। यहाँ कथ्य अपनी कथन-भंगिमा स्वत: निर्धारित करता है। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि "जनवादी लेखक 'क्राफ्ट' के मामले में एकदम नया और अभूतपूर्व रवैया अख्तियार करता है और संभव है कि अच्छी-से-अच्छी पहल भी बदली स्थिति में छोड़ देनी पड़े।"[18] –मायकोव्स्की का यह कथन आज के गीतकारों में देखा जा सकता है। आज के जनवादी गीतकार भाषा के मामले में जितने सक्रिय हैं, अभिव्यक्ति के मामले में उतने ही सजग हैं। इसीलिए व्यावहारिक जीवन और बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होते हुए भी उनकी अभिव्यंजना क्षमता अधिक स्वाभाविक और सक्षम प्रतीत होती है। एक उदहारण देखिए जिसमें 'सोन-जुही' शब्द परंपरागत मादक गंध के बदले 'श्रम-शक्ति' का अर्थ दे रहा है-

"मेरा बदन हो गया पत्थर का / 'सोन-जुही'- से हाथ तुम्हारे- / लकड़ी के हो गये / हमारे दिन फीके हो गये / नक्शा बदल गया सारे घर का।"[19]

दूसरी बात यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जनवाद का एक छोर समाजवाद से तो दूसरा छोर गाँधीवाद से भी जुड़ता है। गाँधी जी ने समाजवादी लक्ष्य की संपूर्ति द्वंद्ववाद के दर्शन में नहीं ढूँढी, वरन पदार्थ जगत से अधिक व्यक्ति-चरित्र-निर्माण में और संस्कार की चेतना में खोजा, वैसे ही आधुनिक गीत भी जनपक्षधरता में और भारतीय बोधपरक प्रवृत्ति में व्यक्ति-चरित्र को खोजने का प्रयास करता है। इसी संदर्भ में यह भी ध्यान देने की बात है कि जनवाद का समान्तर शब्द है- समाजवाद। 'जन' और 'समाज' दोनों सापेक्षी हैं। अपने विस्तृत

रूप में 'जन' शब्द 'समाज' और 'लोक' जैसे समष्टिबोधक शब्दों का पर्यायवाची है। इसी से इसे 'सोशलिज्म' का अनुवाद माना जाता है। और संदर्भित परिप्रेक्ष्य में यह भी कि प्रजातंत्र की परिभाषा में 'प्रजा' और 'समाज'- दोनों मानव समुदाय के परिचायक शब्द हैं। 'प्रजा' –लोक और समाज से पृथक नहीं है। अब्राहम लिंकन ने कभी कहा था- "जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा किया जाने वाला शासन-- प्रजातंत्र या लोकतंत्र है"[20] -तो यह व्यापक जन-समुदाय को ही व्याख्यायित करता है। जिस तरह समाजवाद, अधिकारों और अवसर को दृष्टि में रखकर, सम्पूर्ण मानव-समाज को समान धरातल पर प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील है, उसी तरह प्रजातांत्रिक पद्धति में विश्वास करने वाले भी लोक-चेतना और मत के बल पर लक्ष्य की प्राप्ति में आस्था रखते हैं। जनवादी चिंतन में भी अपने हक़ और बराबरी के लिए आवाज़ बुलंद करने की यही प्रवृत्ति है-

"हम गरीब मजदूर भले, / हम किसान मजबूर भले / पर, अपनी लाचारी का गीत न गाएंगे / ताकत नयी बटोर- / क्रांति के बीज उगाएंगे।"[21]

स्पष्ट है कि आधुनिक जनवादी गीति-रचना में क्रांति के स्वर के साथ सांस्कृतिक-बोध और जीवन परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ संवेदनात्मक अभिव्यक्ति भी है- "जहाँ दर्द नीला है, वहीं कहीं मैं हूँ"- (शंभुनाथ सिंह)। लेकिन अशांति और अस्थिरता के इस युग में जिस प्रकार की शक्तिहीनता दिखाई दे रही है, उसमें आमजन क्या अपना लक्ष्य प्राप्त कर पायेगा?- "रश्मिरथी/ तुम आओगे/ लेकिन- कुछ कर पाओगे?"[22] ऐसा प्रश्न आज कटघरे में पड़ा है। ऐसा इसलिए, क्योंकि स्वतंत्रता-पूर्व हमारी समस्याओं की जड़ गुलामी थी और हमने उसका मुकाबला मिलकर किया था, लेकिन स्वतंत्रता-पश्चात् समस्याओं की जड़ मौकापरस्ती और गरीबी है। 'गुलामी भगाओ' का जो नारा पहले दे रहे थे, अब 'गरीबी हटाओ' का नारा लगा रहे हैं। हम स्वतन्त्र तो हो गए परन्तु स्वार्थपरता में अभी भी सभी कैद हैं। इन प्रश्नों पर विचार करना आज इसलिए भी आवश्यक है कि जहाँ हमारे पाँव टिके हैं उसके नीचे नुकीली कीलें गड़ी हुई हैं और ऊपर से रूढ़ मानसिकता और परिस्थिति के पत्थर पड़ रहे हैं। ऐसे में स्वार्थी और अंधत्व समाज से कैसे निपटा जाय?-

"पाँव के ऊपर पत्थर है / नीचे चुभती कील, / कन्धों पर है गिद्ध दृष्टियाँ / सर पर उड़ती चील / हर भविष्य अब ग़लत अंदाजा है वर्तमान के दरवाजों पर भी ताला है।"[23]

इन तथ्यों व प्रसंगों से स्पष्ट है कि जनगीत का कथ्य सपाट नहीं है, न ही उसकी भाषिक-चेतना में किसी प्रकार का कोई सरलीकरण है। जैसा कि अक्सर कहा जाता है कि आधुनिक जनवादी गीतों के तेवर में तीव्रता तो है किन्तु शिल्प के स्तर पर वह उतना ही कमजोर अथवा चुका हुआ है। सच तो यह है कि जनगीतों में वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति कलात्मकता से पूर्ण होने पर भी तल्ख़ और लोकाश्रित है और संक्षिप्त होकर भी वह अर्थानुधावी और गंभीर है। आज इसने सिद्ध कर दिया है कि कविता की सार्थकता राग-समन्वित जन-सार्थकता में है, कोरी बौद्धिकता में नहीं-

"मेरा गीत न गा पाया यदि दर्द आदमी का, / अगर नहीं कर पाया थके पसीने का टीका; / भाषा बोल न पाया हारी थकी झुर्रियों की, / लाख मिले मुझको बाजारू जीत- कुछ नहीं।"[24]

जनवाद का सच्चा स्वरूप यही है। अत: कहा जा सकता है कि आधुनिक जनवादी गीतों में जन की आशा-आकांक्षा के साथ-साथ पीड़ा, वेदना और संघर्ष को पूरी ईमानदारी के साथ व्यंजित किया गया है। अनुभूति की सच्चाई, नवीन सौन्दर्य-बोध, स्वाभाविकता और लोकोन्मुखता इसकी विशिष्टता है। निश्चय ही, आधुनिक जनवादी गीत जीवनानुभूति के यथार्थ अंकन में समर्थ है।

संदर्भ:

1. संस्कृत-हिंदी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, नवीन संस्क. पृ. 436
2. "महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय"
   -यजुर्वेद, (सं.) वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, संस्कृति संस्थान, बरेली, संस्क.1965, 9/40
3. "उत्सन्नकुलधर्मणां मनुष्याणां जनार्दन।
   नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।"- श्रीभगवतगीता, अध्याय-2, श्लोक 44
4. "देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां।
   नक्षत्रविद्यां सर्वदेवजनविद्यायेतद्भगवोऽध्येमि ।।"
   -छान्दोग्योपनिषद्, शंकरभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. 713
5. छठवां दशक, विजयदेव नारायण साही, द्वि. संस्क. 2007, पृ. 78
6. "Man's command over the rest of nature and over himself."
   -G.D.H. Cole: A History of Socialist Though, Vol. I (1789-1850), Macmillan & Co. New York, p. 278
7. छठवां दशक, विजयदेव नारायण साही, द्वि. संस्क. 2007, पृ. 76
8. वही, पृ. 77
9. राजकमल चौधरी, नयी कविता, अंक 5-6, 1960-61, पृ. 18
10. परिवेश, (संपा.) कुमार संभव, आपातकालोत्तर अंक, पृ. 12
11. रमेश रंजक, इतिहास दुबारा लिखो, नेश. पब्लि. हाउस, दिल्ली, संस्क.1970, पृ.73
12. निराला रचनावली-2 (सं.) नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रका. दिल्ली, संस्क.1992, पृ. 447
13. महापुराण (पुष्पदंत), -संपा. डी.पी.एल. वैद्य, श्रीरामचंद्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, संस्क. 1968, प्रथम भाग, 26/4/1-10
14. मैथिलीशरण गुप्त, हिन्दू, साहित्य सदन प्रका. झाँसी, संस्क. 1938, पृ. 105
15. पंत, युगवाणी, राजकमल प्रका. संस्क. 1959, पृ. 53
16. अश्वघोष, अम्मा का ख़त, प्र. सं., पृ. 28
17. कर्णसिंह चौहान, साहित्य के बुनियादी सरोकार, स्वराज प्रका. दिल्ली, प्र.सं. पृ. 115
18. वही, पृ. 114
19. रमेश रंजक, हरापन नहीं टूटेगा, अक्षर प्रका. दिल्ली, संस्क. 1976, पृ. 57
20. "Democracy is Government of the people, for the people and by the people." -Quoted from Prof. B.C. Rai: Theory of Education, New Building, Aminabad, Lucknow, p. 73
21. शांति सुमन, ओ प्रतीक्षित, लहर प्रका. इलाहाबाद, संस्क. 1970, पृ. 80
22. रवीन्द्र भ्रमर, रश्मि-रथी', 'प्रक्रिया' (सं.) राजेन्द्रप्रसाद सिंह, अनुपम प्रका. पटना, संस्क. 1972, पृ. 58-59
23. कुँवर बेचैन, भीतर सांकल बाहर सांकल, प्रगीत प्रका. गाज़ियाबाद, सं. 1978, पृ.52
24. रमेश रंजक, मिट्टी बोलती है, अक्षर प्रका. दिल्ली, संस्क. 1976, पृ. 71

कनिष्क अपार्टमेंट 508, सी एंड डी ब्लॉक, पॉकेट-1, शालीमार बाग, दिल्ली, पिन: 110088, मोबा: 8130352696, ई-मेल: abheepsa22patel@gmail.com

धूमिल के काव्य में विराम चिह्न

- विजय कुमार भारती

जहाँ तक धूमिल की बात है उनका ध्यान 'भाषा रचना' की ओर अधिक था। अष्टेकर के अनुसार - "जिस तरह धूमिल ने विराम, अर्धविराम और विराम के चिह्नों को तिलांजलि हेतुतः दे रखी है। उसी तरह काव्य पंक्तियों का स्वरूप भी सहेतुक निश्चित किया-सा लगता है। मुझे इसमें अर्थगत लय का अनुभव होता है।"[7] वास्तविकता यह है कि धूमिल ने पूरी तरह से विराम चिन्हों की तिलांजलि नहीं दी कुछ विशिष्ट तथा मौलिक ढ़ंग से विराम चिह्नों का प्रयोग समकालीन संदर्भों एवं चुनौतियों को ध्यान में रखकर किया। अतः धूमिल विराम चिह्नों के विशिष्ट प्रयोगों से कविता की नयी सर्जना करते हैं। धूमिल के बारे में काशीनाथ सिंह ने कहा है कि 'वे कविता लिखते नहीं बनाते थे'। कविताओं को सार्थक शब्दों के साथ प्रस्तुत करने के लिये वे बेचैन रहते थे।

धूमिल की कविताओं को पढ़ते हुए ऐसा लगता कि विराम सिर्फ ठहराव नहीं है, ठहराव का अंत और गति का वैविध्य है। इस वैविध्य में संवेदनाएँ भी हैं और वर्तमान समय की चुनौतियाँ भी हैं। विराम चिह्नों के संदर्भ में कामता प्रसाद गुरु की यह टिप्पणी ध्यातव्य है – "यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न हो सकता है कि विराम चिह्न शुद्ध व्याकरण का विषय है या भाषा रचना का? यथार्थ में यह विषय भाषा रचना का है।"1

खैर जो भी हो, विराम चिन्ह व्याकरण का एक अभिन्न अनुशासन है और व्याकरण भाषा एवं विचारों को व्यवस्थित करने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। व्याकरण में भाषा की सौंदर्य व शक्ति दोनों ही निहित है। अतः रचनाकार इसके लिये सचेष्ट होता है कि वह रचना में भाषा के साथ-साथ विचारों की सामर्थ्य और शक्ति की अभिवृद्धि कर सके। यद्यपि व्याकरण एक शास्त्र है जिसका सम्बंध 'शब्दों के शुद्ध रूप और प्रयोग के नियमों के निरूपण से होता है।'2 परंतु किसी भी शास्त्र की एक सीमा होती है जो भाषा के साथ उसके वैचारिक सामर्थ्य में व्यवधान उत्पन्न करती है। यह सीमा कहीं-कहीं अनुशासन के रूप में भी दिखाई देती है। फलस्वरूप शब्द तथा वाक्य के अनुशासित होते ही अर्थ भी अनुशासित होने लगते हैं। ये स्थितियाँ रचना में कहीं अनुकूल प्रभाव डालती है तो कहीं प्रतिकूल। प्रश्न यह है कि व्याकरण पर ज्यादा प्रभाव सैद्धांतिक पक्ष का है या व्यावहारिक पक्ष का? निश्चित तौर पर सैद्धांतिक पक्ष का। कहने का अर्थ है कि पाठक को व्याकरण के संदर्भ में सैद्धांतिक पक्ष से होकर ही व्यावहारिक पक्ष की ओर जाना पड़ता है। जहाँ तक धूमिल की बात है उन्होंने व्याकरण के व्यावहारिक पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया। उनके शब्दों में -

मैं वापस चला आऊँगा।/ अपनी कविताओं के अँधेरे में चुपचाप वापस चला आऊँगा।/ बिल्कुल नाकाम होठों पर वही पद व्याख्या / बार-बार लिंग, वचन, कारक या संज्ञा,सर्वनाम / या, शायद यह सब नहीं होगा। (ट्यूशन पर जाने से पहले) इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि धूमिल व्याकरण की एकरसता से ऊब चुके थे। यही ऊब उन्हें व्याकरण और फिर विराम चिह्नों के प्रयोग के अतिक्रमण की ओर ले गयी। वैसे साठोत्तरी कविता नकार का एक दर्शन लेकर आयी थी जिसमें राजकमल चौधरी, कुमार विकल से लेकर धूमिल तक शामिल थे। यह नकार अंतर्वस्तु और भाषा दोनों के स्तर पर उपस्थित हुआ। पर अकविता में नकार का प्रदर्शन होने लगा। धूमिल ने अकविता की इस कमजोरी को अच्छी तरह भाँप लिया था। धूमिल ने 'राजकमल चौधरी के लिये' शीर्षक कविता में 'व्याकरण की अपाहिज धारणा' जैसे मुहावरे का प्रयोग किया। अतः स्पष्ट है कि धूमिल व्याकरण की धारणा का विस्तार चाहते थे क्योंकि उन्हें व्याकरण की भूमिका कविताओं के संदर्भ में कहीं न कहीं संकीर्ण नजर आ रही थी। यही वजह थी कि उन्होंने विराम चिह्नों के प्रयोगों की संकीर्णता को भी भाँप लिया। एक तरह से वे नये भाषिक प्रतिमानों की खोज कर रहे थे। मुक्तेश्वरनाथ तिवारी के शब्दों में – "समकालीन हिंदी काव्यभाषा, खुशी की बात है कि सबसे अधिक जुझारू नजर आती है। इसने भाषिक

प्रतिमान स्थापित किये हैं।"3 एक प्रकार से धूमिल ने जुझारू भाषा तैयार करने के लिये व्याकरण का उपयोग और अतिक्रमण किया। समकालीन परिवेश और चुनौतियों के निरंतर दबाव ने धूमिल को इस अतिक्रमण की ओर मोड़ दिया। जैसे निराला को यह एहसास हुआ था कि छंद का अनुशासन कविता के विकास में बाधक है वैसे ही धूमिल को इसका एहसास हुआ कि व्याकरण का अनुशासन कविता की अर्थवत्ता को खोलने में कहीं न कहीं बाधक है।

वैसे व्याकरण ही वह कसौटी है जहाँ भाषा की शुद्धता और अशुद्धता की परख की जाती है। परंतु भाषा की शक्ति केवल शुद्धता में ही निहित नहीं होती। अभिप्राय यह है कि व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करने के बाद यदि किसी शब्द की अर्थवत्ता में वृद्धि हो जाय तो यह शब्द प्रयोक्ता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस संदर्भ में कामता प्रसाद गुरु की यह टिप्पणी ध्यातव्य है – "केवल व्याकरण पढ़ने से मनुष्य अच्छा लेखक या वक्ता नहीं हो सकता।..... भाषा में व्याकरण की भूल न होने पर भी विचारों की भूल हो सकती है और रोचकता का अभाव रह सकता है।"4 धूमिल के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि विचारों को समृद्ध करने के लिये वे व्याकरण का अतिक्रमण या उल्लंघन करते हैं। परंतु ऐसा वे हमेशा नहीं करते , व्याकरण के नियमों का पालन भी करते हैं पर शुद्धतावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाते। उनके शब्दों में - क्या मैं व्याकरण की नाक पर/ रूमाल लपेटकर निष्ठा का तुक / विष्ठा से मिला दूँ ? (कवि 1970) इसके बावजूद यह सही है कि उनके यहाँ तुक तो हैं पर वे बेतुके नहीं हैं। यद्यपि उनके प्रयोगों से कभी-कभी चमत्कार का भ्रम भी हो सकता है, विशेषतः विराम चिन्हों के प्रयोगों में। परंतु इस संदर्भ में ब्रह्मदेव मिश्र की टिप्पणी ध्यातव्य है - "धूमिल के अजनबी और अस्पष्ट-से लगनेवाले प्रयोगों को उनके समूचे संदर्भ की संगति में देखा जाना युक्तियुक्त है।"5

वैसे धूमिल के काव्य में व्याकरण के अतिक्रमण के कई पहलू हैं। उनमें से एक विराम चिन्हों का प्रयोग भी है। "विराम चिह्न भाषा को स्पष्ट,सुगम और सुबोध बनाने में सहायक होते हैं।"6 यदि हम आधुनिक हिंदी कविता की परम्परा में विराम चिह्नों के प्रयोग पर ध्यान दें तो नवजागरण में विशेषतः भारतेंदु और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में विराम चिह्नों का प्रयोग व्याकरण के सामान्य नियमों के आधार पर हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त की कविता - 'हो जाय अच्छी भी फसल पर लाभ कृषकों को कहाँ ? / खाते सवाई, बीज ऋण से हैं रंगे रखे कहाँ ?' में प्रश्नवाचक चिह्न मौजूद हैं पर ये व्याकरण के अनुरूप हैं भले ही इनका सम्बंध राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना से है। छायावादी कविता की परम्परा में देखें तो प्रसाद की कविताओं में भी सामान्य तौर पर विराम चिह्नों का प्रयोग हुआ है। प्रसाद के यहाँ योजक चिह्न अधिक हैं पर निराला के यहाँ योजक, निर्देशक और उद्धरण चिह्न अधिक हैं। महादेवी और पंत के यहाँ भी विराम चिह्नों के सामान्य प्रयोग हैं।

जहाँ तक धूमिल की बात है उनका ध्यान 'भाषा रचना' की ओर अधिक था। अष्टेकर के अनुसार - "जिस तरह धूमिल ने विराम, अर्धविराम और विराम के चिह्नों को तिलांजलि हेतुतः दे रखी है। उसी तरह काव्य पंक्तियों का स्वरूप भी सहेतुक निश्चित किया-सा लगता है। मुझे इसमें अर्थगत लय का अनुभव होता है।"7 वास्तविकता यह है कि धूमिल ने पूरी तरह से विराम चिन्हों की तिलांजलि नहीं दी कुछ विशिष्ट तथा मौलिक ढ़ंग से विराम चिह्नों का प्रयोग समकालीन संदर्भों एवं चुनौतियों को ध्यान में रखकर किया। अतः धूमिल विराम चिह्नों के विशिष्ट प्रयोगों से कविता की नयी सर्जना करते हैं। धूमिल के बारे में काशीनाथ सिंह ने कहा है कि 'वे कविता लिखते नहीं बनाते थे'। कविताओं को सार्थक शब्दों के साथ प्रस्तुत करने के लिये वे बेचैन रहते थे। यही बेचैनी उन्हें विराम चिह्नों की मदद से कविता के अर्थ विस्तार की ओर ले गयी।

प्रश्नवाचक चिह्न (?) - द्विवेदीयुगीन कविता से ही प्रश्न की कई मुद्राएँ मिलनी लगती हैं। इन कवियों के यहाँ प्रश्न औपनिवेशिक सत्ता से जुड़े हैं या सांस्कृतिक हैं; छायावादी कविता के प्रश्न जिज्ञासा के हैं। परंतु नवजागरणकालीन कविताओं में प्रश्नवाचक चिह्नों का जो प्रयोग मिलता है? इनमें ज्यादातर प्रश्न सांस्कृतिक और राष्ट्रीय हैं। छायावादी कविता भी प्रश्नों की मुद्रा सांस्कृतिक जरूर है पर व्यक्ति मुक्ति के प्रश्न भी उसमें सन्निहित हैं। प्रगतिवादी कविता में प्रश्न व्यवस्था को केंद्र में ले आते हैं। प्रयोगवादी कविता के प्रश्न नितांत वैयक्तिक और आत्मकेंद्रित बन जाते हैं। नयी कविता के केंद्र में विशेषतः मुक्तिबोध, पूँजीवाद और उसमें शोषित मनुष्य तथा मध्यवर्ग के आत्मालोचन के प्रश्न को शामिल करते हैं। धूमिल के यहाँ प्रश्नवाचक चिन्हों का प्रयोग कम हुआ है। फिर भी जहाँ ये प्रश्न आये हैं, लोकतांत्रिक प्रश्न के तौर पर। उनके प्रश्न, प्रश्न कम संवाद अधिक हैं। "बीस साल बाद / मैं अपने आप से एक सवाल करता हूँ / जानवर बनने के लिये कितने सब्र की जरूरत होती है ?" (बीस साल बाद) , "तुमने भी देखा है ? / तुमने क्या देखा ? .....तुमने भी पढ़ा है ? तुमने क्या पढ़ा ? ..... तुमने भी सुना है / तुमने क्या सुना ?" (पतझड़)

विस्मय (!)– साधारण तौर पर विस्मयादिबोधक चिन्हों का प्रयोग किसी वाक्य या शब्द के बाद एक ही बार होता है। हिंदी कविता में विस्मयसूचक चिह्नों का प्रयोग सामान्य तौर पर होता रहा है। यदि ध्यान दें तो साठोत्तर हिंदी कविता में विशेषतः मुक्तिबोध के यहाँ विस्मय का दबाव बढ़ता गया और उनकी कविताओं में दुहरे विस्मय चिह्नों का प्रयोग हुआ। इस विस्मय के केंद्र में पूँजीवाद का चरित्र था। पर धूमिल के यहाँ तिहरे विस्मय चिह्नों का प्रयोग भी दिखाई देता है। कारण यह है कि सन् साठ के बाद जैसे-जैसे भारतीय सत्ता के प्रजातांत्रिक चरित्र की नाटकीयता बढ़ती गयी, वैसे-वैसे यह विस्मय और प्रगाढ़ होता गया। धूमिल ने विस्मय चिन्हों का प्रयोग बिलकुल नये अंदाज में किया है। 'हत्यारा ! हत्यारा!! हत्यारा!!! (पटकथा) – धूमिल ने यहाँ तीन विस्मय चिन्हों का प्रयोग एक साथ किया है। जिसका एक खास मतलब है। सत्तर के दशक तक

आते-आते भारतीय राजनीति हत्या प्रधान होती गयी और हत्यारों को पूरी तरह से राजनीतिक संरक्षण मिलने लगा। अत: कवि का विस्मय इन विसंगतियों को देखकर बढ़ता रहा।

शिरोरेखा – हिन्दी व्याकरण के अनुसार हिंदी भाषा का कोई भी शब्द शिरोरेखा रहित नहीं लिखा जाता। परंतु धूमिल व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करते हुए कुछ शब्दों को शिरोरेखा रहित भी लिखते हैं। उदाहरण के लिये 'आज़ादी' शब्द को धूमिल ने आ-ज़ा-दी की तरह 'पटकथा' कविता में लिखते हैं। आज़ादी शब्द के बिखराव की अपनी अर्थवत्ता है। शिरोरेखा का टूटना या बिखरना हमारी लोकतंत्रिक विफलता द्योतक है। 70 के दशक तक आज़ादी शब्द अपनी अर्थवत्ता खो चुका था और जनता के सपने बिखर चुके थे। एक प्रकार से आज़ादी मिली(आ) पर वह उतनी ही जल्दी चली गयी(जा) और इसने जनता को भुखमरी, गरीबी तथा भ्रष्ट शासन दिये(दी)। इसी तरह धूमिल पटकथा में बिखर शब्द को अलग-अलग करके लिखते हैं – बि ख र। वजह यह है कि बिखरे हुए को संयुक्त कर लिखना उन्हें तर्कसंगत नहीं लगता। ऐसा करते हुए धूमिल कहीं न कहीं व्याकरण के अनुशासन पर प्रश्न खड़ा कर देते हैं। ऐसे प्रयोगों पर हुकुमचंद राजपाल की टिप्पणी है - "मुक्तछंद कविता में वाक्य की संरचना जिस रूप में अपेक्षित होती है, कवि उसका पालन नहीं करता वरन् सही और सार्थक भाषा की तलाश में भाषाहीन होने का प्रयत्न करता है। भाषाहीन होने से अभिप्राय भाषा के अनुरूप नहीं वरन् भाषा को अपने अनुरूप बनाना है।" 8. धूमिल सिर्फ भाषा को अपने अनुरूप ही नहीं बनाते, इस कोशिश में वे कविता के लिये नयी भाषा गढ़ते भी हैं।

वर्णक्रम - धूमिल कभी-कभी वर्णों को ऊपर से नीचे के क्रम में भी लिखते हैं। जैसे –

की

च

ड़ - ऐसा लिखना पूरी तरह से व्याकरण के विरुद्ध है। पर ध्यान दें तो 'पटकथा' में यह सम्बोधन जनता के लिये है। वर्तमान समय की वास्तविकता यह है कि जनता इतनी विभाजित है कि सामूहिक विरोध की भूमिका में नहीं आ सकती। वह डरी हुई और चुप है। इसलिये वह अलग-थलग है और अपने-अपने वर्गों में सिमटकर रह गयी है। अतः धूमिल समकालीन परिवेश का ध्यान रखते हुए शब्दों का प्रयोग करते हैं और व्याकरणिक अनुशासन का अतिक्रमण करते हैं।

उद्धरण / अवतरण चिह्न(" ") – उद्धरण चिह्न दो प्रकार के होते हैं एकल तथा दुहरे। सामान्यतया दुहरे उद्धरण चिह्न का प्रयोग किसी के कथन या विचार को हूबहू व्यक्त करने के लिये तथा एकल उद्धरण चिह्न का उपयोग किसी के कथनांश या विचारांश को व्यक्त करने के लिये किया जाता है। धूमिल की कविता में एकल और दुहरे दोनों प्रकार के उद्धरण चिह्नों का प्रयोग हुआ है। परंतु धूमिल समकालीन विसंगतियों और चुनौतियों पर ध्यान केंद्रित कराने के लिये उद्धरण चिह्नों का प्रयोग करते हैं – मैंने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा – / 'बच्चे तो बेकारी के दिनों की बरकत हैं'(अकाल दर्शन) अकाल पर लिखी गयी इस कविता में बाल श्रम के प्रति एक गहरी संवेदना व्यक्त हुई है। ये अंश समकालीन विसंगतियों की सूक्तियों की तरह उपस्थित होते हैं। वैसे नागार्जुन ने भी अकाल पर कविता लिखी है पर उसमें अकाल की परिस्थितियाँ और उन परिस्थितियों से उबरने के संघर्ष चित्र हैं, परंतु धूमिल के यहाँ उन परिस्थितियों के कारणों की जाँच-पड़ताल है। 'अकाल दर्शन' कविता में ही कई स्थलों पर धूमिल ने उद्धरण चिह्नों का प्रयोग किया है – 'जनता के हित में', 'भारतवर्ष नदियों का देश है','उस आदमी', 'गाय', 'हाय','यह सब कैसे होता है'। इसके अतिरिक्त 'कविता हत्या नहीं करती'(ताजा खबर),थोड़ा-सा और खा लो (गृह-युद्ध) ध्यान दें तो इनमें कुछ शब्द हैं तो कुछ वाक्य। परन्तु इन सबका सम्बंध जनतांत्रिक परिवेश से है,जिसमें राजनीति के लिये ये शब्द महज एक शब्दावली हैं और जनता के लिये विडम्बना।

धूमिल के यहाँ दुहरे उद्धरण चिन्हों का भी प्रयोग हुआ है। "पता है" – / "भूख से अब तक पैंतीस आदमी मर चुके हैं।"(सूखे की छायाएँ और एक शिशिर संध्या), "आमी तोमार भालो बासी"(मैमन सिंह) "मत भूलो कि तुम्हारा हर आँसू / अपराधियों के लिये चोट का दूसरा दरवाजा खोलता है। (बीसवीं शताब्दी का सातवाँ दशक), "मैं उसे अपनी आदतों में जिंदा रखूँगा /अपने सबसे ऊपरी बटन का नाम / अपने दोस्त के नाम पर रखूँगा" .... "मैं उसे अपनी यादों में जिंदा रखूँगी / अपने रिबन का नाम /उसके नाम पर रखूँगी" (जनतंत्र : एक हत्या संदर्भ), "कहने का मतलब है भाईयों ! / जनतंत्र जनता से नहीं / घर की जंग से शुरू होता है"(मतदाता), "क्यों रोती है ? / बदनसीब औरत ! क्या तू नहीं जानती / कि भाषा बलात्कार से बालिग होती है ?" ('स' और 'त' का खेल), "यह है देश तुम्हारी गर्दन कहाँ है" ? [हत्यारे(दो)], "ओह ! आह !! अच्छे बच्चे रोते नहीं"(वापसी), "लोकतंत्र के / इस अमानवीय संकट के समय / कविताओं के जरिये / मैं भारतीय / वामपंथ के चरित्र को / भ्रष्ट होने से बचा सकूँगा"(कविता,) धूमिल ने इन दुहरे उद्धरण चिन्हों की मदद से जनता की लोकतंत्रिक चेतना को सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर पर उद्बुद्ध किया। सिर्फ यही नहीं लोकतांत्रिक परिवेश के निर्माण में जनता कहाँ खड़ी है,इसका एहसास दिलाया। आज के गैर लोकतांत्रिक परिवेश में रचनाकारों के लिये धूमिल एक बड़े प्रेरणा स्रोत हैं।

निर्देशक चिह्न (–) :- राजेंद्र प्रसाद सिंह के अनुसार निर्देशक चिह्नों का प्रयोग 'किसी शब्द की व्याख्या करने,उदाहरण देने, शब्दविशेष पर जोर देने' के लिये होता है। धूमिल की शायद ही कोई कविता होगी जिसमें निर्देशक चिह्नों का प्रयोग न हुआ हो। "अनेक कविताओं में डैश से वह अपने वक्तव्य का विस्तार कर लेता है।"9. धूमिल की प्रायः कविताओं में शब्दों और वाक्यों के पूर्व निर्देशक चिह्नों का प्रयोग एक

ठोस संदेश के रूप में हुआ है। 'कविता' नामक कविता में – 'नहीं – अब वहाँ कोई अर्थ खोजना व्यर्थ है' इसी कविता में 'मगर अब - /उसे मालूम है कि कविता / घेराव में / किसी बौखलाये हुए आदमी का / संक्षिप्त एकालाप है' (कविता)। इसी तरह 'रक्तपात - / कहीं नहीं होगा'(जनतंत्र के सूर्योदय में) ; 'क्रांति - / यहाँ के असंग लोगों के लिये / किसी अबोध बच्चे के / हाथों की जूजी है।'(अकाल-दर्शन) ; 'नहीं - मुझे इस तरह / मत घूरो / मैं तुम्हारे ही कुनबे का आदमी हूँ'(भाषा की रात) इस चिह्न की मदद से धूमिल शब्द की व्याख्या तो करते हैं पर अर्थ को प्रभावी तथा वजनदार भी बनाते हैं। कविता पाठ में अर्थ दैदीप्यमान हो उठें,इसी उद्देश्य से वे निर्देशक चिह्नों का उपयोग करते हैं। प्रायः धूमिल ने 'नहीं' शब्द के उपरांत निर्देशक चिह्नों का उपयोग किया है। ताकि नकार की ताकत बनी रहे। लोकतंत्र में नकार का साहस जनचेतना का प्रमुख हिस्सा है। दूसरी ओर जनतंत्र की चिर परिचित शब्दावली को भी वे निर्देशक चिह्नों से जोड़ते हैं ताकि शब्दों के पीछे छिपी चालाकियों और षड़यंत्रों का मुखौटा उतार सकें।

डॉट्स (....) – धूमिल की कविताओं में डॉट्स का भी काफी प्रयोग हुआ है। ये डॉट्स कविता को अतिरेक से बचाते हैं। धूमिल को जब भी लगता है कि कुछ वाक्यों की मदद से वे बहुत कुछ कह चुके हैं, वे वहीं ठहर जाते हैं और डॉट्स का प्रयोग करते हैं। बड़ी ही बारीकी से पंक्ति को समाप्त कर डॉट्स का प्रयोग कर लेते हैं। डॉट्स की मदद से वे पाठकों को अतिरिक्त सोचने के लिये स्पेस देते हैं पर अतिरिक्त बोलने से बचते हैं। "और तभी सुलग उठा पश्चिमी सीमांत / .....ध्वस्त...ध्वस्त. ....ध्वांत..... ध्वांत.... (पटकथा) भारत-पाक युद्ध के समकालीन यथार्थ को ये डॉट्स वृहत्तर रूप में प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् भारत-पाक युद्ध से विध्वंस की गहरी विडम्बना इसमें समाहित है। इसी तरह जब वे 'पटकथा' में कहते हैं – "यह मेरा देश है .... / यह मेरा देश है...." तो वे डॉट्स के जरिये भारत की सामाजिक,राजनैतिक,आर्थिक तथा सांस्कृतिक विडम्बना का संकेत दे देते हैं। "वाक्यों में शक्ति संवाहन हेतु वह (-) खाली स्थान डौट्स का काफी प्रयोग करता है। कई बार वाक्य पूर्ति का डौट्स से वह बहुत कुछ अनकहा छोड़ देता है।" 10. वास्तव में धूमिल के यहाँ जो अनकहापन है, वही उनके कहने की कला है।

अल्पविराम (,) – हुकुमचंद राजपाल के शब्दों में - "वक्तव्य में कौमा स्पष्टीकरण पर बल देने हेतु (सेटरेट के लिये) प्रयुक्त है।" 11.धूमिल की कविताओं में इस विराम चिन्ह का अधिकाधिक प्रयोग है। यह सही है कि वे स्पष्टीकरण पर बल देने के लिये इसका प्रयोग करते हैं। परंतु लोकतंत्र में संवाद की भूमिका सबसे अहम होती है। सत्ता के साथ भी और जनता के साथ भी। अतः संवाद को प्रखर और प्रभावी बनाने के लिये धूमिल कॉमा का प्रयोग करते हैं। लम्बी कविताओं में पूर्णविराम प्रयोग बहुत कम मिलता है, पर अल्प विराम के प्रयोग अधिक हैं। विराम चिन्ह के जरिये उनका ध्यान संवाद के नैरंतर्य पर अधिक है। इसके लिये वे कहीं-कहीं व्याकरण के नियमों का उल्लंघन भी कर डालते हैं। "लोग बिलबिला रहे हैं / पत्ते और छाल/ खा रहे हैं / मर रहे हैं, दान / कर रहे हैं।"(अकाल-दर्शन) यहाँ केवल एक जगह ही अल्प विराम का प्रयोग हुआ है। व्याकरण के नियम के अनुसार अन्य दो स्थान पर भी अल्प विराम का प्रयोग किया जा सकता था। पर धूमिल का ध्यान मरने और दान करने की विसंगति पर अधिक है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि धूमिल की कविता में विराम चिन्ह का एक खास मतलब है। धूमिल ने इनका प्रयोग तो किया पर व्याकरण के दायरे से बाहर निकलकर और समकालीन चुनौतियों को आत्मसात कर। यदि प्रयोग की दृष्टि से देखें तो विराम चिन्हों का प्रयोग समकानीन कविता की एक अन्यतम विशेषता है। दूसरे शब्दों में धूमिल की कविता व्याकरणिक जड़ता के विरुद्ध एक ठोस कदम है। विराम चिन्हों के अधुनातन प्रयोगों से धूमिल ने यह सिद्ध किया कि व्याकरण के अनुशासन को भी गतिशील होना चाहिये। कविता में व्याकरण, समकालीन चुनौतियों को आत्मसात कर अपना विकास कर सकता है। धूमिल की कविताएँ यह प्रमाणित करती हैं कि व्याकरणिक प्रयोग भी कविता का शिल्प है। यही नहीं, धूमिल अपनी कविताओं के माध्यम से अंतर्वस्तु को व्याकरणिक शिल्प में तथा व्याकरणिक शिल्प को अंतर्वस्तु में तब्दील करने की अद्वितीय क्षमता रखते हैं। धूमिल के बारे में शुकदेव सिंह की यह टिप्पणी बिल्कुल सार्थक है – "वे टेक्स्ट के टेक्स्टर और स्ट्रक्चर के बीच कलाविद समझ के साथ संतुलन बनाने वाले सर्जक हैं।" [12]

संदर्भ

1. गुरु, कामताप्रसाद, हिंदी व्याकरण, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 2009, पृ०440
2. गुरु, कामताप्रसाद, हिंदी व्याकरण, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 2009, पृ०21
3. तिवारी, मुक्तेश्वरनाथ, समकालीन हिंदी काव्यभाषा और समानांतरता, पीताम्बरा प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2003, पृ० 56
4. गुरु, कामताप्रसाद, हिंदी व्याकरण, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 2009,पृ०22
5. मिश्र, ब्रह्मदेव, धूमिल और उनका काव्य संघर्ष, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद. संस्करण 2012, पृ०90
6. वर्मा, रामचंद्र, अच्छी हिंदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2008, पृ०226
7. अष्टेकर, गणेश तुलसी, कटघरे का कवि 'धूमिल', पंचशील प्रकाशन, जयपुर,संस्करण 1984,पृ०203
8. राजपाल, हुकुमचंद, समकालीन बोध और धूमिल का काव्य, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1983, पृ० 141
9. राजपाल, हुकुमचंद, समकालीन बोध और धूमिल का काव्य, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1983, पृ० 141
10. राजपाल, हुकुमचंद, समकालीन बोध और धूमिल का काव्य, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1983, पृ० 141
11. राजपाल, हुकुमचंद, समकालीन बोध और धूमिल का काव्य, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1983, पृ० 142
12. सिंह, शुकदेव (सं०), धूमिल की कविताएँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2003, पृ० 33

✦✦✦

प्रोफेसर, हिंदी विभाग, काजी नजरुल विश्वविद्यालय, आसनसोल, 713340, प० बंगाल, मो० – 9732959135, ईमेल – vkbharty@gmail.com

अजगैबीनाथ-सुल्तानगंज से देवघर बैद्यनाथ धाम की यात्रा

- वीरेन्द्र कुमार यादव

जाह्नवी ऋषि के आश्रम में शरीर छोड़ देने के बाद, उनके शिष्य अजगैबी उत्तरवाहिनी गंगा का जल बाबा बैद्यनाथ के ज्योर्तिलिंग पर लगातार चढ़ाते रहे, मान्यता हैं कि जब वे 100 वर्ष के हो गए तो शिव भगवान से कष्ट देखा नहीं गया तो उन्होंने अजगैबी को रोकने के लिए, जब वह जल जढ़ाने सूइया पहाड़ पहुँचे, उसी समय शंकर भगवान गधे का रूप धारण कर प्यास से तड़पने लगे, यह देखकर अगजैबी ने गधे के मुँह में जल लगा दिया। इस पर शंकर जी प्रकट हो गये और उन्हें गले से लगा लिया। शिवजी बोले आश्रम पर रहकर ही तुम पूजा करो। वहीं मैं तुमसे प्रतिदिन मिलूँगा। अंत समय आ गया है, तुम्हारी समाधि सुल्तानगंज में बनेगी, पहले तुम्हारा नाम होगा, पहले तुम्हारी पूजा होगी तब हम पर जलाभिषेक होगा।

सुल्तानगंज का सांस्कृतिक इतिहास काफी प्राचीन है। भारत के भागलपुर जिला स्थित यह एक ऐतिहासिक स्थल है। यह गंगा नदी के तट पर बसा हुआ है, जो धर्म, संस्कृति एवं कला के स्रोत के रूप में विख्यात है। यहाँ बाबा अजगैबीनाथ का विश्व प्रसिद्व प्राचीन मंदिर है जो गंगा की धारा में स्थित है। उत्तरवाहिनी गंगा होने के कारण सावन के महीने में लाखों काँवरिया देश के विभिन्न भागों से गंगा जल लेने के लिए यहाँ आते है। यह गंगाजल झारखण्ड राज्य के देवघर स्थित बाबा बैद्यनाथ को चढ़ाते है। बाबा बैद्यनाथ धाम भगवान शिव के बारह ज्योतिर्लिंगों में एक माना जाता है। सुल्तानगंज हिंदू तीर्थ होने के अलावा बौद्ध पुरावशेषों के लिए भी विख्यात है। सन् 1853 ई0 में रेलवे स्टेशन के निर्माण के दौरान यहां से मिली बुद्व की लगभग 2 टन वजनी 2 मीटर ऊँची ताम्र प्रतिमा आज बर्मिंघम म्यूज्यिम में रखी है। इस प्रतिमा में महात्मा बुद्व के शीश पर कुंचित केश है परंतु उसके चारों ओर प्रभामंडल नहीं है। सुल्तानगंज में स्थित यह ताम्र प्रतिमा नालंदा शैली की प्रतीत होती है। परंतु राखाल दास बनर्जी ने इसे पाटलिपुत्र शैली में निर्मित माना है।

सुल्तानगंज में दो पहाड़ियाँ है जिनमें से एक को अजगैबीनाथ की पहाड़ी तथा दूसरी को मुरली पहाड़ी कहा जाता है। इन दोनों पहाड़ियों की चट्टानों पर उत्कीर्ण, ब्राहमण और बौद्वधर्म की कलाकृतियों से इस स्थान की धार्मिक स्थिति की जानकारी मिलती है। इन दोनों पहाड़ियों की चट्टानों पर उत्कीर्ण, ब्राहमण मूर्तियों में से शेषशायी विष्णु, वराह, रेवेन्तु, गरुड़, उमा-महेश्वर, परशुराम, सूर्य, गणेश, पदचिन्ह और शिलालेख आदि विशेष रूप से दर्शनीय है। सुल्तानगंज के आस-पास के क्षेत्रों से धर्मचक्र, प्रर्वत्तन मुद्रा एवं भूमि स्पर्श मुद्रा में प्रतिमाएं प्राप्त हुई है। इन कलाकृतियों से सुल्तानगंज के सांस्कृतिक वैभव की पहचान होती है।

अंग प्रदेश की हृदय-स्थली सुल्तानगंज अनगिनत धार्मिक एवं अति प्राचीन ऐतिहासिक धरोहरों को अपने दामन में समेटे हुए है। चीनी यात्री हवेनसांग के अनुसार हिरण्यपुरी हिरण्य जनपद के नाम से जाना जाता था। ऐसा कई ग्रन्थों में भी वर्णित है। यह वही क्षेत्र है, जहां दैत्यराज बली ने भगवान बामन को साढ़े तीन डेग जमीन दान किया था। भगवान बामन ने तीन डेग में संपूर्ण धरती को नाप लिया और आधिपत्य जमा लिया फिर बामन ने आधा डेग कहाँ रखे बली से पूछा तो बली ने अपना शरीर आगे कर दिया था और उनका साढ़े तीन डेग का वचन राजा बली ने देहदान कर पूर्ण किया था।

यहां श्रृंगी ऋषि के पिता विभाण्डक ऋषि 'वाल्मिकी' कालिदास से लेकर विद्यापति समान महान विभूति महादेव के शरणागत होते रहे है। यहीं महात्मा बुद्ध जीवन पर्यन्त प्रतिवर्ष चतुरमासा बिताया करते थे।

माना जाता है कि यहां तीन धनुष थे जिसमें एक 'जरा', जो जरासंध के पास था, दूसरा 'अजगब' जो सुल्तानगंज गंगा के बीच शिव मंदिर स्थल पर था और तीसरा 'गांडीव' जो अर्जुन के पास था। किंवदंती है कि सीता का स्वयंवर रचाने के लिए मिथिला के राजा जनक यहीं से 'अजगब' धनुष को उठा ले गये थे।

सुल्तानगंज को गंगा की दूसरी जन्म स्थली भी कहा जाता है। राजा भगीरथ ने अपने वंश के साठ हजार पुत्रों के उद्धार के लिए कठिन तपस्या की थी, जिस कारण गंगा अवतरित होकर धरती पर अविरल बहने लगी। गंगोत्री से मचलती हुई गंगा तीव्र वेग से आ रही थी कि सुल्तानगंज के वर्तमान जहाँगीरा गाँव में जाह्नवी मुनि तपस्या में लीन थे, गंगा जाह्नवी आश्रम को बहा ले गयी। इससे मुनि की तपस्या भंग हो गयी। क्रोधित जाह्नवी मुनि अंजलि में गंगा को लेकर पी गये। इससे राजा भगीरथ उदास हो गये और जाह्नवी मुनि को मनाने के लिए घोर तपस्या की। इसके बाद जाह्नवी मुनि ने अपने त्रिशूल से जाँघ को चीरकर गंगा को धरती पर उतार दिया। इसी कारण गंगा का नाम जाह्नवी यानि गंगा का हो गया, उसका पुर्नजन्म हो गया और गंगा यहां उत्तरवाहिनी हो गयी। चरक संहिता में जहान्वी की चर्चा है। जाँघ को चीर कर गंगा को निकालने के कारण इस जगह का नाम जहाँगीरा हुआ। यह स्थान आज भी इसी नाम से एक गाँव के रूप में बसा हुआ है।

जाह्नवी ऋषि के आश्रम में शरीर छोड़ देने के बाद, उनके शिष्य अजगैबी उत्तरवाहिनी गंगा का जल बाबा बैद्यनाथ के ज्योर्तिलिंग पर लगातार चढ़ाते रहे, मान्यता हैं कि जब वे 100 वर्ष के हो गए तो शिव भगवान से कष्ट देखा नहीं गया तो उन्होंने अजगैबी को रोकने के लिए, जब वह जल जढ़ाने सूइया पहाड़ पहुँचे, उसी समय शंकर भगवान गधे का रूप धारण कर प्यास से तड़पने लगे, यह देखकर अगजैबी ने गधे के मुँह में जल लगा दिया। इस पर शंकर जी प्रकट हो गये और उन्हें गले से लगा लिया। शिवजी बोले आश्रम पर रहकर ही तुम पूजा करो। वहीं मैं तुमसे प्रतिदिन मिलूँगा। अंत समय आ गया है, तुम्हारी समाधि सुल्तानगंज में बनेगी, पहले तुम्हारा नाम होगा, पहले तुम्हारी पूजा होगी तब हम पर जलाभिषेक होगा।

पौराणिक कथा के अनुसार अजगैबीनाथ धाम सुल्तानगंज से सर्वप्रथम दशानन रावण ने पवित्र गंगा जल लेकर पैदल काँवर यात्रा कर बाबा बैद्यनाथ धाम जाकर जलाभिषेक किया था। इसके बाद भगवान राम ने स्वयं काँवर लेकर पैदल यात्रा करते हुए बाबा बैद्यनाथ का जलाभिषेक किया, उसी समय से यहां काँवर यात्रा की शुरुआत हुई बतायी जाती है।

बाद में पाल वंश के शासक नारायण पाल ने अंग जनपद के विभिन्न हिस्सों में अनेक हिंदू देवी-देवताओं के मंदिरों का निर्माण करवाया। उसी में से एक अजगैबीनाथ पहाड़ी पर भगवान शंकर का और उस पहाड़ी के सामने वाली पहाड़ी पर देवी पार्वती के मंदिर का निर्माण कराया। यहाँ पहाड़ी के चारों ओर 108 शिवलिंग की खुदाई की गई है और मूर्ति के नीचे लिखी भाषा की लिखावट ब्राह्मी लिपि है।

भगवान शिव का सबसे प्रिय और सबसे पावन महीना सावन माना जाता है। इस माह में कांवर यात्रा की शुरूआत भी सुल्तानगंज से की जाती है, जिसकी अंतिम मंजिल देवघर का बैद्यनाथ मंदिर है, जो यहाँ से 105 कि0 मी0 है।

वैसे तो काँवर में पवित्र नदियों से जलभर कर देवताओं पर जल चढ़ाने की परम्परा न्युनाधिक रूप में सारे राज्य में, संपूर्ण देश में प्रचलित है। जहां तक देवघर में ज्योतिर्लिंग पर गंगा जल और विप्लव पत्र चढ़ाने का प्रसंग है और वह भी विशेषकर सावन में - अति प्रचारित और विश्व विश्रुत है। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में बैद्यनाथ स्थित ज्योतिर्लिंग नवम है। बैद्यनाथ धाम से शिव की प्रशस्ति के कारण इस ज्योतिर्लिंग को बैद्यनाथ ज्योतिर्लिंग भी कहा जाता है। इसे सब कोई कामदा लिंग बैद्यनाथ के नाम से भी जानते हैं। ये चिंतामणि के समान भक्तों के सभी मनोरथों को पूरा करने वाले हैं।

रावण अपने को अमर बनाने के लिए माता के आदेश से कैलाश पुरी गये। रावण की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने अपनी कामना लिंग को ले जाने के लिए कह दिया, परंतु उसे निर्देश दे दिया कि मार्ग में उसे जहां रख दोगे वहीं रह जाऊँगा। शिव के निर्णय से सुरलोक में हलचल मच गयी। सुर संसद की बैठक हुई। तय हुआ कि रावण अपने बल विक्रम से यों ही हमारे ऊपर भारी है, अगर ज्योतिर्लिंग को ले जाने में सफल हुआ तो हमारी मुसीबत और बढ़ेगी। फलत: विष्णु और वरुण देव आगे आये। रावण वायुमार्ग से जा रहे थे। उन्हें जोर से लघुशंका लगी। नीचे उतरे, अहीर (ग्वाला) जिनका नाम बैद्यनाथ था जो कि कहा जाता है विष्णु के रूप थे, रावण ने शिवलिंग को उन्हें थमा दिया। रावण लघुशंका निवृत्त करने चला गया। इधर उन अहीर बैद्यनाथ ने ज्योतिर्लिंग को अधिक भारी अनुभव होने पर भूमि पर रख दिया। रावण काफी विलंब के बाद लौटा तो पूरी शक्ति लगाकर भी उसे न उखाड़ सका और निराश होकर मूर्ति पर अपना अंगूठा गड़ा कर पुनः त्रिकुटाचल पर जाकर घोर तपस्या की। उसके बाद लंका चला गया। रावण गुफा त्रिकुटाचल पर स्थित है। इधर ब्रहमा, विष्णु तथा विभिन्न देवताओं ने शिवलिंग को झारखण्ड के इसी वन प्रांत में प्रतिष्ठित कर दिया। बैद्यनाथ अहीर के नाम से ये स्थान बैद्यनाथ धाम हो गया।

विश्व के सभी शिव मंदिरों के शीर्ष पर त्रिशूल लगा दिखता है मगर बैद्यनाथ धाम परिसर के शिव पार्वती, लक्ष्मी नारायण व अन्य सभी मंदिरों के शीर्ष पर पंचशूल लगे हैं। यहां प्रति वर्ष महाशिवरात्रि के दो दिन पूर्व बाबा मंदिर, माँ पार्वती व लक्ष्मी नारायण के मंदिरों से पंचशूल उतारे जाते हैं। इस दौरान पंचशूलों को स्पर्श करने के लिए भक्तों की भीड़ उमड़ पड़ती है। बैद्यनाथ धाम परिसर में स्थित अन्य मंदिरों के शीर्ष पर स्थित पंचशूलों को महाशिवरात्रि के कुछ दिनों पूर्व ही उतार लिया जाता है। सभी पंचशूलों को नीचे लाकर महाशिवरात्रि से एक दिन पूर्व विशेष रूप से उनकी पूजा की जाती है और तब सभी पंचशूलों को मंदिरों पर यथास्थान स्थापित कर दिया जाता है। इस दौरान बाबा व पार्वती मंदिरों के गठबंधन को हटा दिया जाता है। महाशिवरात्रि के दिन नया गठबंधन किया जाता है। गठबंधन के लाल पवित्र कपड़े को प्राप्त करने के लिए भी भक्तों की भीड़ उमड़ पड़ती है। महाशिवरात्रि के दौरान बहुत ज्यादा श्रद्धालु सुल्तानगंज से काँवर में गंगाजल भर कर पैदल चलकर और 'बोल बम' का जयघोष करते हुए बैद्यनाथ धाम पहुँचते हैं। कॉवरियों के कई प्रकार होते है, जिसमें सबसे कठिन और साधनामय कार्य 'डाक बम' का है। जो सीधे सुल्तानगंज के गंगातट पर काँवर उठाते हैं और देवघर में बाबा को गंगा जल चढ़ाकर विराम लेते है, इसे खड़ा काँवर भी कहा जाता है। दूसरे प्रकार के काँवरधारी सामान्य गति से चलते है। मार्ग से मात्र फलाहार दुग्धाहार करके रास्ता नापते हैं। तीसरे प्रकार के काँवरधारी बीस-तीस से लेकर चालीस-पचास की टोली में चलते हैं। मार्ग में विराम लेते हैं। मनपसंद खाना खाते हैं और तीन चार दिनों में पहुँचते है। एक चौथे प्रकार के भी काँवरधारी है। ये पवित्र काँवर लिए चलते है। आगे-आगे वाहन चलता है। जिस पर उनके बच्चे रहते है, खाने-पीने का सामान रहता है। ट्रांजिस्टर, माइक बजता चलता है। निश्चित पड़ाव पर वाहन रुकता है। नौकर-चाकर रसोई तैयार करके रखते है। सबसे कठिन कार्य 'डाक बम' का है। इसमें तो अनेक कमजोर शरीर वाले बाबाधाम आते-आते शिवधाम की ओर कूच कर जाते हैं।

सावन मास में ही क्यों काँवरियों का सैलाब उमड़ता है? सावन महीने में ही समुद्रमंथन हुआ था। भगवान शंकर ने संसार के कल्याण के लिए हलाहल का पान किया। राजा भगीरथ ने गंगा को स्वर्ग से ही पृथ्वी पर लाया। गंगा को इस तीव्र धारा को भगवान शंकर ने अपने मस्तक पर रोका और जटाओं में बाँधा। फलतः उन्हें गंगा बहुत प्रिय है। बाद में भगीरथ अपने पितरों के उद्धार के लिए भगवान आशुतोष से अपनी तपस्या के द्धारा गंगा को पाया। भगवान शिव को विप्लव पत्र बहुत पसंद हैं। उसमें तीन पत्ते होते है। जो ब्रहमा, विष्णु, महेश के सम्मिलन के प्रतीक हैं। सावन का मास ऐसे ही सुहावना होता है। बेल के पेड़ नये-नये ताजे विपल्व पत्तो से सजे रहते हैं। गरजते आकाश और बरसते पावस में यात्रा सरल, सुगम और प्राणदायक बन जाती है।

काँवर तो एक प्रतीक मात्र है। यह कर्म की निरंतरता का परिचायक है। मानव का लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा यह काँवर देता है। सृष्टि के मूल में कर्म है। अतः चारों पुरुषार्थ इसी के माध्यम से प्राप्त होते हैं। यह संदेश काँवर एक साथ देता है। यह कर्मयोग एवं भक्तियोग का समन्वय स्थापित करता है। काँवर लेकर चलने वाला भक्त मार्ग में एकाकी नहीं रहता है। वह अपने सहयात्री का सुख-दुःख बाँटकर अपनी मंजिल की ओर बढ़ता है। काँवरिया के पथ में जिस तरह की सद्भावना दिखती है वह कहीं और नहीं दिखती। काँवरधारियों में कोई जाति नहीं होती, न कोई श्रेणी होती है। संपूर्ण शरीर केसरिया आच्छादित श्रद्धा की मूर्ति और आस्था की प्रतिमा होता है। पथरिले दुरूह और पग-पग पर थका देने वाले मार्ग के अवरोधों को पार करके जब भक्तजन बाबा के प्रागंण में पहुँचते हैं तो उनके जीवन की साध पूरी हो जाती है। कुल मिलाकर बाबा बैद्यनाथ की ओर जाने वाले कॉवरियां प्रेम सहानुभूति भाईचारा और सद्भाव का अद्भुत नजारा पेश करते हैं। यह यात्रा भले ही कुछ दिनों के किए क्यों न हो पर यात्रियों में जैसी प्रतिबद्धता और सदभावना दिखती है, उसकी भारत में कोई दूसरी मिसाल आसानी से नहीं ढूंढी जा सकती।

सुल्तानगंज से शुरू होने वाली बैद्यनाथ धाम तक की यात्रा पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करती है। सांसारिक जीवन में आदमी एक दूसरे से कटकर भले ही रहता आ रहा है पर जब काँवर लेकर बाबा धाम की ओर प्रयाण करता है तो उसकी कटुता समाप्त हो जाती है। बाबा की सेवा में लगा काँवरियों का यह जत्था बैद्यनाथ धाम को भारत की अन्य धामों से अलग बनाता है।

वासुकिनाथ अपने शिव मंदिर के लिए जाना जाता है। बैद्यनाथ मंदिर की यात्रा तब तक अधूरी मानी जाती है, जब तक वासुकिनाथ में दर्शन नहीं किये जाते हैं। यह मान्यता हाल-फिलहाल में प्रचलित हुई है। पहले ऐसी मान्यता का प्रचलन नहीं था। न ही पुराणों में ऐसा वर्णन है। यह मंदिर देवघर से 42 कि0 मी0 दूर जरमुण्डी के पास स्थित है। यहां पर स्थानीय कला को विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। वासुकिनाथ मंदिर के परिसर में अन्य छोटे-छोटे मंदिर भी हैं।

✦✦✦

सदस्य, हिन्दी सलाहकार समिति, भारत सरकार, सह अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी परिषद, 153-एम आई जी, लोहिया नगर, कंकड़बाग, पटना - 800020

खत्म हो रहे नौले-धारे, प्यासा है अल्मोड़ा

- आशीष कुमार 'अंशु'

खगमरकोट और नैल का पोखर जो सिद्ध के नौले के पास है। वहाँ भी राजा रहे। यह जगह वर्तमान में पल्टन बाजार के पास है। शहर का विस्तार उस समय उत्तर की तरफ हो रहा था। इसी समय मल्ला महल का निर्माण हुआ। गौरतलब है कि मल्ला महल के पूर्वी और पश्चिमी दोनों छोरों पर पानी का पर्याप्त स्त्रोत मौजूद था। जबकि राजाओं के पास नौकर चाकर कारिन्दों की कोई कमी नहीं होती थी। उनका महल कहीं भी बनता तो पानी की कमी नहीं होती। बावजूद इस बात के राजाओं ने महल बनाते हुए पानी के स्त्रोत का ख्याल रखा। वैसे अल्मोड़ा के थपलिया में एक राज नौला भी है। इस नौले का नाम राज नौला इसीलिए पड़ा क्योंकि यहां से राजा का पानी जाता था। आज वहाँ का पानी पीने लायक नहीं बचा, वह प्रदूषित हो चुका है।

1975 में कुमाऊं के अंदर जल संस्थान बना और उसके बाद धीरे धीरे लोगों के घरों तक नल का पानी आने लगा। जब लोगों को घर तक पानी मिलने लगा उसके बाद समाज जल की अपनी परंपरागत व्यवस्था को भूल गया। जब पानी घर तक आने लगा तो समाज उस व्यवस्था को भूल गया जिसने उनकी पीढ़ियों को सींचा था। ग्राम स्तर से लेकर प्रदेश स्तर तक जो भी जल संरक्षण की तकनीक थी। उसे बचाने की जगह वह कैसे खत्म हो, इसके प्रयास होते अधिक दिखे।

उत्तराखंड के कुमाऊ मंडल में नौलों की एक संस्कृति रही है। कत्युरी राजाओं ने इस संदर्भ में बहुत काम किया है। हिमालय क्षेत्र में जितने भी पुराने नौले हैं, वहां कत्युरी राजाओं की छाया देखी जा सकती है।

शिवजी के पुत्र कार्तिकेय के नाम से छठी शताब्दी में एक साम्राज्य कत्युरी स्थापित हुआ। बताया जाता है कि हिमालय भू भाग में पहला सिक्का इन्होंने ही चलाया जो आज भी संग्रहालय में मिल जाएगा। इनकी सीमा अफगानिस्तान तक फैली थी। सन् छह में कुमाऊ में संकट आया। चीन की तरफ से हमला हुआ। कत्युरी राजाओं की राजधानी तिब्बत के पास ब्रह्मपुर थी। राजा शिव ने उस समय अपनी बहन सुनंदा को जो मेवाड़ के राजा के यहाँ ब्याही गई थी। उसे संदेश भेजा कि हमारा राज छिन्न भिन्न हो गया है। मदद कीजिए। मेवाड़ के राजा ब्रह्मपुर की रक्षा के लिए आए जिसमें रास्ते में कई राजे रजवाड़े जुड़ते चले गए। ब्रह्मपुर आजाद हुआ। फिर लंबे समय तक कोई विपदा इस क्षेत्र पर नहीं आई। कार्तिकेय का साम्राज्य बहुत फैला। कत्युरी राजाओं का युद्ध मुगलों से हुआ। काठगोदाम के पास जो रानी बाग है, वहाँ जिया रानी मुगलों से लड़ती हुई मारी गई। उन्होंने अपने जीवन का बलिदान दे दिया लेकिन अपने जीते जी मुसलमानों को पहाड़ पर नहीं आने दिया।

वैसे इतिहासकार अल्मोड़ा शहर को बसाने का श्रेय चंद राजाओं को देते हैं। सन 1563 में चंद राजा बालो कल्याणचंद ने अल्मोड़ा को अपनी राजधानी बनाया। उससे पहले यह शहर कत्युरी राजाओं की देखरेख में था और चंद राजाओं की राजधानी उस समय पिथौरागढ़ हुआ करती थी। अल्मोड़ा नाम के पिछे भी एक कहानी सुनने को मिलती है। अल्मोड़ा स्थित कटारमल के सूर्य मंदिर के बर्तनों की सफाई के लिए प्रति दिन खसियाखोला नाम की जगह खस समुदाय के लोग एक खास घास मंदिर में पहुंचाते थे। इस घास का नाम चिल्मोड़ा था। जिसे कुछ लोग अमला नाम से भी जानते हैं। इसी चिल्मोड़ा घास के नाम पर शहर का नाम अल्मोड़ा रख दिया गया। जानकार बताते हैं कि मुगलों ने चंद राजाओ से समझौता किया था। जिस समझौते के अन्तर्गत चंद राजाओं ने मुसलमानों को अपने यहां रहने की जगह देने का आश्वासन दिया और अल्मोड़ा शहर में राजपुरा उसी समझौते के अन्तर्गत बना।

उस दौर में आम जन के बीच देवताओं का भय था कि वे नौलों में स्वच्छता नहीं रखेंगे तो देवता नाराज हो जाएंगे। नौलों में उतरने पर ईश्वर की मूर्तियाँ आज भी वहाँ विराजमान है। वहाँ गोल विष्णु चक्र मिलेगा। कत्युरी राजा मानते थे कि जल ही विष्णु है। जो हमारा लालन-पालन करता है। पीढ़ियों से जो नौले और धारे हमारे पूवजों ने बचाकर हमें सौंपा है, मानो यह दायित्वबोध समाज के अंदर से खत्म हो चुका है कि आने वाली पीढ़ियों के लिए भी उसकी कोई जिम्मेवारी है। वह सब कुछ या तो अपनी आंखों के सामने खत्म कर देना चाहता है या फिर उसे खत्म होता हुआ देखकर उसे कोई फर्क नहीं पड़ रहा।

गौरतलब है कि अल्मोड़ा में जितने नौले हैं, वहाँ यक्ष देवता की मूर्ति रखी हुई मिल जाती है। पुराने समय के लोग यह बताते हैं कि इस क्षेत्र में यक्ष देवता को प्रणाम करने के बाद ही नौलों से पानी लेने का विधान रहा है। नौलों में जूता पहनकर नहीं जा सकते थे, इतना ही नहीं, वहाँ रखी हुई देवता की प्रतिमा को प्रणाम करके ही पानी पिया जा सकता था। इसका अर्थ है कि पुराने समय में समाज पानी की कीमत समझता था। वह जहाँ से पानी ले रहा था, वहाँ की साफ सफाई की भी चिन्ता कर रहा था। अब शहरों में पानी का पाइप लाइन आने के बाद समाज अपने ही जल स्त्रोतों से कट गया है। अब तो पानी के लिए लोगों ने घर से बाहर निकलना भी बंद कर दिया है। इस तरह नौले उपेक्षित हो गए। बहुत से नौले लुप्त हो गए।

अल्मोड़ा के सामाजिक कार्यकर्ता दयाकृष्ण कांडपाल ने यह किस्सा सुनाया था कि कैसे उन्होंने मित्रों के साथ मिलकर नौलों की सफाई का काम प्रारंभ किया था। नौलों को वे मित्रों के साथ मिलजुल कर साफ करते थे। उन्होंने रानी नौला, लक्ष्मीश्वर नौला, सिद्ध नौला, कपिना नौला में सफाई की। वे जानते थे कि नदियों को बचाए रखने के लिए अल्मोड़ा में नौले और धारों का बचना जरूरी है। स्वच्छता अभियान को लेकर उनकी योजना लंबी थी लेकिन तीसरे और चौथे सप्ताह तक आते-आते अभियान में शामिल लोगों की संख्या तीन चार ही रह गई। बाकि सभी किसी ना किसी बहाने से सफाई के काम से बाहर हो गए। यह सिर्फ अल्मोड़ा का सच नहीं है, देश भर का समाज एनजीओ और सरकार पर इतना अधिक निर्भर हो गया है कि वह अपना काम भी खुद करने को तैयार नहीं है। उन्हें लगता है कि कोई बाहर से आए, और उनकी सारी फैलाई हुई गंदगी समेट कर अपने साथ ले जाए।

अल्मोड़ा शहर को 360 नौलों का शहर कहा गया है। इस बात का जिक्र पंडित बद्रीदत्त पांडेय ने 'कुमाऊ के इतिहास' में किया है। दूसरी तरफ नैनीताल की कथित तौर पर खोज करने वाला बैरन जो 1840 में अल्मोड़ा आया। उसने लिखा कि अल्मोड़ा में उस समय लगभग 100 जल स्त्रोत थे। 'पर्वतीय जल स्त्रोत' नाम के किताब के लेखक प्रफुल्ल चंद पंत ने 1988-93 के बीच नौलों और धारों पर एक गम्भीर अध्ययन किया और उन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि बैरन सही था।

जैसा कि हम जानते हैं कि 1864 में स्थापित अल्मोड़ा नगर पालिका भारत की सबसे पुरानी नगर पालिकाओं में से एक है। इसके नियम कानून की पुस्तिका में लिखा है कि चेचक के रोगियो अथवा किसी भी संक्रामक रोग से पीड़ित व्यक्ति के कपड़े को धोने के लिए अलग नौले की व्यवस्था थी। रजस्वला स्त्रियों के स्नान के नौले अलग थे। पीने का पानी जहां से लिया जाए वहाँ कपड़े धोने और स्नान करने की मनाही थी। क्रिया कर्म के नौले अलग थे। यहाँ नियम का पालन ना करने वालों पर जुर्माने की व्यवस्था भी थी। मृत्यु के बाद 12 दिनों तक चलने वाले कर्म कांड के लिए क्रिया नौलों का इस्तेमाल किया जाता था। यहाँ उल्लेखनीय है कि जिन नौलों का इस्तेमाल क्रिया कर्म के लिए किया जाता था, उन्हीं नौलों का पानी कुमाऊ में पीने योग्य बचा हुआ है। दूसरे नौलों की हालत खराब हुई है। संभव है समाज में मौजूदा मृत्यु से भय ने क्रिया नौलों की रक्षा की होगी। सुनारी नौला, चौधरी नौला जैसे जाति आधारित नौले भी कुमाऊ में देखने को मिलते हैं।

कोसी पेयजल योजना सन 1952 में बनी। बावजूद इसके अल्मोड़ा में पानी के लिए नौलों की शरण में जाना मजबूरी थी। इस योजना का पानी भी अल्मोड़ा के लिए पर्याप्त नहीं था। सन 1882 में अल्मोड़ा की जनसंख्या 5000 थी। उस वक्त भयानक सूखा पड़ा था। सारे जल स्त्रोत सूख गए थे। बची थी सिर्फ कपीना धारा। उन दिनों कपीना धारा पर चाय का बगान हुआ करता था। उस धारा के पानी ने लगभग 135 साल पहले पूरे अल्मोड़ा शहर के जीवन की रक्षा की थी। पंडित बद्री दत्त जोशी जिन्होंने बदरिश्वर मंदिर बनाया, ने जिलाधिकारी को जल परियोजना के लिए एक पत्रा लिखा था, जिसमें इस घटना का उल्लेख मिलता है।

बल्ढ़ौटी में पांच जलस्त्रोत थे। उस पानी को पहली बार पाइप के जरिए अल्मोड़ा शहर में लाया गया लेकिन उस पानी से अल्मोड़ा की जरूरत पूरी नहीं हुई। कचहरी के पास रम्फा नौला है। वहां जल परियोजना का पानी छोड़ा गया। 1928 में स्याही देवी जल परियोजना आई। स्याही देवी अल्मोड़ा के पास एक बड़ा पहाड़ है। इस पहाड़ को अल्मोड़ा के अभिभावक जैसा माना जाता है। कसार देवी और वानर देवी की पहाड़ी को मिला दें तो इस तीन तरफ से पहाड़ियों से घिरने की वजह से अल्मोड़ा का मौसम ना अधिक गर्म हो पाता था और ना अधिक ठंडा। लेकिन अब अल्मोड़ा कंक्रीट के जंगल में तब्दील हो गया है। सड़के चौड़ी हो गई हैं। बड़े बड़े होटल खुल गए हैं। सारी शहरी सुविधाएं यहाँ उपलब्ध है लेकिन इन सबमें अल्मोड़ा कहीं खो गया है।

वर्ष 1952 कोसी पेयजल योजना बनी। हर गोविन्द पंत विधानसभा अध्यक्ष थे और गोविन्द वल्लभ पंत मुख्यमंत्री थे। उस समय डिजल के

पंप से पानी खींचकर अल्मोड़ा तक लाया गया। कोसी पेयजल योजना आने के बाद घरों में नल आ गया। घरों में सहजता से पानी उपलब्ध होने की वजह से शहर में नौलों की उपेक्षा हुई।

जब व्यक्ति श्मशान में जाता है, उसे थोड़ी देर के लिए वैराग्य महसूस होता है और जैसे ही वह घर लौटता है, उसका वैराग्य पीछे छूट जाता है। अल्मोड़ा में भी नौलों धारों की चिन्ता नगरवासियों को उसी समय तक रहती है, जब तक नल में परियोजना का पानी नहीं आ रहा। एक बार नल में पानी आ जाए फिर किसी को नौलों का ख्याल नहीं रहता।

वर्ष 1975 का कुमाऊ गढ़वाल जल संचय संग्रह वितरण अधिनियम है, जो कहता है कि आप किसी भी जल स्त्रोत के 100 मिटर के अंदर कोई झाड़ी, पौधा, पेड़ नहीं काटेंगे। यानि आप ऐसी कोई कार्यवायी नहीं करेगे जिससे उस स्त्रोत को नुक्सान पहुंचता हो। जबकि कुमाऊ क्षेत्र में ऐसा कोई नौला नहीं है, जिसका अतिक्रमण नहीं हुआ हो। कई नौलों और धारों को रसूख वाले लोगों ने अपने व्यक्तिगत कब्जे में ले रखा है। धारों को तो होटलों ने अपने निजी कब्जे ले रखा है। शहर में सीवर नहीं है और लोगों ने नौलों धारों के साथ अपना सेप्टिक बना लिया है। आप सोच सकते हैं कि पूरा अल्मोड़ा पीने के पानी के मामले में किस तरह के खतरे से खेल रहा है।

1563-70 के बीच अल्मोड़ा शहर चंद राजाओं ने विकसित किया। वे सबसे पहले खगमर कोर्ट आए। कोर्ट का अर्थ किला है। यहां आने की खास वजह जल स्त्रोत ही था। यहां पर्याप्त जल स्त्रोत मौजूद था। अब वे नौले खत्म हो गए। 1568 में राजा बालो कल्याणचंद के निधन के बाद उनकी गद्दी पर राजा रुद्रचंद बैठे। राजा रुद्रचंद ने अपने लिए इस पहाड़ी पर मल्ला महल का निर्माण कराया। जो इन दिनों अल्मोड़ा के जिलाधिकारी कार्यालय है।

खगमरकोट और नैल का पोखर जो सिद्ध के नौले के पास है। वहां भी राजा रहे। यह जगह वर्तमान में पल्टन बाजार के पास है। शहर का विस्तार उस समय उत्तर की तरफ हो रहा था। इसी समय मल्ला महल का निर्माण हुआ। गौरतलब है कि मल्ला महल के पूर्वी और पश्चिमी दोनों छोरों पर पानी का पर्याप्त स्त्रोत मौजूद था। जबकि राजाओं के पास नौकर चाकर कारिन्दों की कोई कमी नहीं होती थी। उनका महल कहीं भी बनता तो पानी की कमी नहीं होती। बावजूद इस बात के राजाओं ने महल बनाते हुए पानी के स्त्रोत का ख्याल रखा। वैसे अल्मोड़ा के थपलिया में एक राज नौला भी है। इस नौले का नाम राज नौला इसीलिए पड़ा क्योंकि यहाँ से राजा का पानी जाता था। आज वहां का पानी पीने लायक नहीं बचा, वह प्रदूषित हो चुका है।

अल्मोड़ा के प्राकृतिक जल स्त्रोत प्रदूषण के शिकार हो चुके हैं। उनका पानी पीने योग्य नहीं बचा। गिनती के नौले और धारे कुमाऊ में बचे हैं, जिनका पानी पीया जा रहा है।

अब सवाल है कि नौलों को पुनर्जीवित करने के लिए क्या प्रयास किया जा सकता है? यदि वास्तव में इस विषय को लेकर कुमाऊ का समाज गम्भीर है तो इसके लिए सबसे पहले नौले के कैचमेन्ट एरिया को सुरक्षित करना होगा। ऐसा करने से नौले में पानी बढ़ेगा। लेकिन जिस अल्मोड़ा शहर को यहां के नागरिकों ने कंक्रीट का जंगल बनाया है, वहाँ के कैचमेन्ट के क्षेत्र को सुरक्षित रखने की बात वहां का समाज कैसे कर सकता है?

जल स्त्रोत की बात करें तो शहर में ड्रेनेज की व्यवस्था नहीं है, यह बात पूरा शहर जानता है। उसके बावजूद पूरे शहर सेप्टिक टैंकों से भरा हुआ है। इसे आम तौर पर लोगों ने आंगन में ही बनवाया है। उस टैंक में इकट्ठा हो रहे मल मूत्र की कोई निकासी नहीं है। उसका पानी रिस कर मिट्टी के रास्ते भू जल में मिल रहा है। यह बात अल्मोड़ा के लोगों को भी समझनी होगी कि उस पानी से उनके नौलों-धारों में आ रहा पानी अछूता नहीं रह सकता है। प्रदूषित जल की बात परीक्षणों से भी साबित हो चुकी है।

नौलों और धारों की उपेक्षा के कारण अल्मोड़ा जिस पानी की संकट से गुजर रहा है, यदि आने वाले समय में शहर इस समस्या से बाहर निकलना चाहता है तो इसका हल जनसहभागिता से ही निकल सकता है। जनसहभागिता से ही हालात में बदलाव आ सकता है। सरकारी परियोजनाएं एक हजार करोड़ की भी आ जाएं तो इस समस्या से कुमाऊ का बाहर आ पाना मुश्किल लगता है। समाधान के लिए पानी के प्रति समाज में जागृति का आना जरूरी है। पानी का मोल जब तक कुमाऊ नहीं समझेगा और पानी की गुणवत्ता को लेकर वह जागरूक नहीं होगा, तब तक उसे इस बात की समझ नहीं होगी कि पानी से जुड़ी सभी बीमारियों के जड़ में प्रदूषित पानी है।

यह बात हमें समझना होगा कि नौलों को बचाने से कुमाऊ भविष्य में पानी के संकट से तो बचा ही रहेगा साथ ही साथ वहां के समाज को शुद्ध पानी निशुल्क मिल सकेगा। यदि नौलों को बचाने के लिए यह पीढ़ी संवेदनशील नहीं हुई तो कहीं यह आखिरी पीढ़ी साबित ना हो जाए जो नौलों और धारों के साथ बड़ी हो रही है।

✦✦✦

फ-73, गली न. 6, शिवम लेन, वजीराबाद गाँव, दिल्ली-110084, मो. 9971598416

रेखांकन - अनुवादक : दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात'

कहानी एक अद्भुत आदमी की

रमानाथ राय

अनुवादक : दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात'

अपने कंधे पर एक बैग लिए रोज़ ही किसी चौराहे पर एक आदमी खड़ा रहता है।

वह आदमी दाहिने पैर का जूता अपने बाएँ पैर में पहनता है, और बाएँ पैर का जूता अपने दाहिने पैर में पहनता है। इस तरह वह आदमी अपने जूते को अदल-बदल कर पहने यूँ ही एक पेड़ के नीचे चुपचाप खड़ा रहता है। खड़े-खड़े जब उसे भूख लगती है तब वह अपने बैग से एक बहुत ही पुरानी चुसनी को निकालकर बीच-बीच में उसे बहुत ही तन्मयता से चुसने लगता है। इस तरह से चुसनी को चुसते जब उसका पेट भर जाता है तब वह चुसनी को फिर से अपने बैग में रख लेता है।

एक दिन वह आदमी इसी तरह से दाहिने पैर का जूता बाएँ पैर में पहनकर और बाएँ पैर का जूता दाहिने पैर में पहनकर अपने बैग से चुसनी निकालकर चुसने ही जा रहा था कि उसके सामने अचानक एक आदमी आकर खड़ा हो जाता है। जिससे वह डरकर जल्दी ही अपनी चुसनी को बैग में रख लेता है, और उस आदमी को खड़े-खड़े चुपचाप एकटक देखने लगता है।

आया हुआ आदमी बहुत ही गंभीर स्वर में उससे पूछता है,"महाशय का नाम?"

प्रश्न के उत्तर में वह अब क्या उत्तर दे, उसे समझ में नहीं आता है। वह उत्तरहीन चुपचाप खड़ा रहता है।

उस आदमी को जब अपने प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता है तब वह फिर उसी तरह गंभीर स्वर में कहता है,"महाशय, आपका नाम?"

वह आदमी अब संकुचित होकर अपने बैग में हाथ ले जाता है, मानो वह उसमें से अपने नाम को खोज रहा हो! मगर बैग में उसे चुसनी के अलावा कुछ और नहीं मिलता है। वह हताश होकर वैसे ही खड़ा रह जाता है।

अब तो वह आदमी बहुत क्रोधित होकर चिखते हुए अब कहता है, "महाशय आपका नाम क्या है?"

घबड़ाहट में अचानक उसके जुबान से 'महाशय' निकल जाता है।

अब वह आदमी चिढते हुए कहता है, "भला महाशय किसी का नाम होता है क्या?"

"तो फिर नाम कैसा होता है?"

> ***"नहीं जानता। ऐसा कहने से नहीं होगा। प्रत्येक इंसान के पास कोई-न-कोई उद्देश्य ज़रूर ही होता है। जैसे किसी का उद्देश्य बहुत धन कमाने की है, तो किसी का उद्देश्य बहुत ख्याति प्राप्त करने की है। किसी का उद्देश्य घर बनाने की है, तो किसी का उद्देश्य गाड़ी ख़रीदने की है। किसी का उद्देश्य विदेश में निवास करने की रहती है तो किसी का उद्देश्य मंत्री बनने की होती है। किसी का उद्देश्य युद्ध करने की होती है तो किसी का उद्देश्य युद्ध को समाप्त करने की होती है। अब आप बताएं इससे आख़िर आपका उद्देश्य क्या है?"***

"जैसे राम, श्याम, मधु, हरि, पन्चू, नन्दू, गोपाल, माणिक, प्रभात, विभूति, शंकर, मलय, कमल, विमल, हलधर, तीन कौड़ी, दीनानाथ, भोलानाथ, चंद्रनाथ, आदि। इतना कहने के कुछ देर बाद वह फिर कहता है,"इतने नामों में कौन सा नाम है आपका?"

"चंद्रनाथ?"

"सिर्फ़ चंद्रनाथ कहने से नहीं होगा। पदवी कौन सी है?"

"पदवी मतलब?"

"नाम के अंत में पदवी होता है। जैसे चट्टोपाध्याय, बन्धोपाध्याय, भट्टचार्य, चक्रवर्ती, राय, घोष, बोस, मित्र, सेन, माईती, गुई... इनमें से आपकी पदवी कौन सी है ?"

"मेरी पदवी गुई है।

"इसका मतलब अब आपका पूरा नाम चंद्रनाथ गुई है। इतना कह वह आदमी अपने ज़ेब से एक नोटबुक निकालकर न जाने उसमें क्या कुछ लिखने लगता है। लिखने के बाद वह पुनः वैसे ही गंभीर आवाज़ में कहता है,"महाशय का निवास?"

"निवास मतलब?"

"आप रहते कहाँ हैं?"

"फ़िलहाल तो अभी पेड़ के नीचे हूँ।"

"वह आदमी यह लिख लेने के बाद फिर कहता है, "महाशय का काम?"

"काम मतलब?"

"आप करते क्या हैं?"

"मैं कुछ नहीं करता। मैं अपने दाहिने पैर का जूता बाएँ पैर में पहनता हूँ, और बाएँ पैर का जूता दाहिने पैर में पहनकर रोज़ इस पेड़ के नीचे खड़ा रहता हूँ।"

वह आदमी इसे भी अपने नोटबुक में लिख लेने के बाद पुनः कहता है,"इस तरह से खड़े होने का उद्देश्य?"

"उद्देश्य मतलब?"

"आप इस तरह अकेले इस पेड़ के नीचे खड़ा क्यों रहते हैं? आपके खड़ा होने का कोई उद्देश्य तो होगा?"

वह आदमी अब बुदबुदाते हुए कहता है, "यह तो मैं नहीं जानता!"

अब वह आदमी यह उत्तर सुनकर अपना सिर हिलाते हुए कहता है,"यह तो मैं नहीं जानता' यह कोई उत्तर नहीं है। कहिए, आख़िर आपका उद्देश्य क्या है? कोई तो उद्देश्य होगा?"

"मैंने कहा न, मैं नहीं जानता।"

"नहीं जानता। ऐसा कहने से नहीं होगा। प्रत्येक इंसान के पास कोई-न-कोई उद्देश्य ज़रूर ही होता है। जैसे किसी का उद्देश्य बहुत धन कमाने की है, तो किसी का उद्देश्य बहुत ख्याति प्राप्त करने की है। किसी का उद्देश्य घर बनाने की है, तो किसी का उद्देश्य गाड़ी ख़रीदने की है। किसी का उद्देश्य विदेश में निवास करने की रहती है तो किसी का उद्देश्य मंत्री बनने की होती है। किसी का उद्देश्य युद्ध करने की होती है तो किसी का उद्देश्य युद्ध को समाप्त करने की होती है। अब आप बताएं इससे आख़िर आपका उद्देश्य क्या है?"

यह सुनने के बाद वह आदमी बहुत सोच विचारने के बाद उत्तर देता है,"मेरा कोई उद्देश्य नहीं है।"

"क्यों?"

"मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिए।"

"यह हो नहीं सकता।"

"मगर यही सच है।"

"विश्वास नहीं हो रहा है। कहीं कुछ गड़बड़ ज़रूर है। मुझे ऐसा क्यों लग रहा है?"

"नहीं, कहीं कोई गड़बड़ नहीं है। आप मुझ पर विश्वास कर सकते हैं।"

पूछने वाला वह आदमी अब चिंतित होकर अपने एक गाल पर हाथ रख लेता है। फिर वह आगे कहता है,"तब तो महाशय आप, बहुत ही संदिग्ध इंसान हैं।"

यह सुनकर वह आदमी अब डर जाता है, "ऐसा क्यों?"

"महाशय आपके इस तरह खड़े होने की ज़रूर कोई मनसुबे हैं। उस मनसुबे के पीछे आपका कोई उद्देश्य नहीं है यह मैं नहीं मान सकता।"

"तो फिर?"

"महाशय, तो फिर अब आपको मेरे साथ चलना होगा।"

"कहाँ?"

"मैं जहाँ लेकर जाऊँगा वहाँ।" इतना कहने के बाद वह आदमी अपना एक कदम आगे बढाते हुए वैसे ही गंभीरता से कहता है, "आप मेरे साथ आइए।"

उसे कुछ समझ में नहीं आता है। अब वह यह उसके पीछे-पीछे जाने लगता है

कुछ दूर जाने के बाद वह दोनों ही एक लाल रंग के मकान के सामने आकर ठहरते हैं। यह देखकर उसके साथ आया आदमी कहता है, "क्या मुझे भी इसके अंदर जाना होगा? "

"हूँ..।" इतना कहकर वह आदमी उस मकान के मुख्य द्वार को खोलकर उसके अंदर चला जाता है।

इसके साथ आया वह आदमी भी साथ ही अंदर चल देता है। मुख्य द्वार से अंदर कुछ दूर वह उसके साथ ही चलता है। फिर वह आदमी इसे एक जगह खड़ा-कर, बाएँ तरफ़ एक कमरे का पर्दा उठाकर उसके अंदर चला जाता है।

साथ आया यह आदमी कमरे के बाहर ही चुपचाप खड़ा रह जाता है। उसे अब बहुत तेज भूख की अनुभूति होने लगती है। अब वह अपने बैग में हाथ डालता है। बैग से चुसनी निकालकर चुसने लगता है। कुछ देर चुस लेने के बाद उसे अब यह अनुभव होता है उसका पेट भर गया है। अब वह अपनी चुसनी को बैग में रख लेता है। तभी कमरे के अंदर गया आदमी कमरे का पर्दा उठाकर बाहर आता है और उससे कहता है, "आप अंदर आइए।" इतना कहने के बाद वह आदमी फिर से कमरे के अंदर चला जाता है। यह आदमी भी अब उसके पीछे ही कमरे का पर्दा उठाकर अंदर आता है। कमरे के अंदर आने के बाद वह देखता है-एक काला मोटा आदमी, काले रंग के एक कुत्ते को अपने गोद में लिए बैठा है। उसके सामने एक बड़ा-सा टेबल है। उस टेबुल पर विभिन्न तरह के काग़ज़ के साथ कुछ किताबें, पानी की गिलास और एक सिगरेट की छाई-दान रखी हुई है। यह आदमी टेबल के बहुत नज़दीक जाने की साहस नहीं करता, वह टेबल से थोड़ा दूर ही खड़ा रह जाता है। इस आदमी का दूर खड़ा रहना, मोटे काले आदमी को पसंद नहीं आता है। अब वह डाँटते हुए उससे कहता है, नऔर नज़दीक आइए।"

साथ आया यह आदमी अब डरते हुए उसके टेबल के नज़दीक जाता है।

काला मोटा आदमी अब कहता है, "महाशय, आपका नाम?"

यह सुनकर इसे अब अपना नाम याद नहीं आता है इसलिए वह वहीं खड़े-खड़े उस आदमी के तरफ देखने लगता है जिस आदमी के साथ यह आदमी यहाँ आया है।

साथ लेकर आया आदमी अब उसके कान में आकर कहता है,"आपका नाम चंद्रनाथ गुई।"

उस आदमी से अपना नाम जान लेने के बाद अब यह आदमी उस काले मोटे आदमी को कहता है, "चंद्रनाथ गुई।"

काला मोटा आदमी आगे फिर कहता है,"महाशय का निवास?

"मेरा कोई निवास नहीं है।"

"तो फिर आप रहते कहाँ है?"

"पेड़ के नीचे!"

यह सुनकर काला मोटा आदमी चकित होकर उसके चेहरे को कुछ देर तक देखता रहता है। फिर वह काला मोटा आदमी उसी तरह उसके चेहरे पर देखते हुए अब जोर-जोर से "हाँ", "हाँ" कर के हँसने लगता है। कुछ देर इसी तरह हंस लेने के बाद फिर आगे कहता है, "पेड़ के नीचे आपका निवास है! वाह! ये तो बहुत मज़ेदार बातें है।"

इसके उत्तर में कमरे में आया यह आदमी अब क्या कहे, उसे कुछ समझ में नहीं आता है। आगे कहने से चुप रह जाता है।

काला मोटा आदमी फिर उससे पूछता है, "महाशय का काम?"

उत्तर में कमरे में आया यह आदमी कहता है, "मैं कुछ नहीं करता। मैं अपने दाहिने पैर का जूता बाएँ पैर में पहनकर और बाएँ पैर का जूता दाहिने पैर में पहनकर दिन भर एक पेड़ के नीचे खड़ा रहता हूँ।"

यह उत्तर सुनकर काला मोटा आदमी कहता है, "वाह! यह भी बहुत मज़ेदार बातें है। क्या इससे आपका पेट भर जाता है? "

"हाँ। भर जाता है।"

"आप भोजन-पानी क्या करते हैं?"

"मेरे पास एक चुसनी है। भूख लगने पर उसे मैं चुस लेता हूँ।"

"इससे आपका पेट भर जाता है?"

"हाँ, भर जाता है।"

"अद्भुत!" इतना कह कुछ देर चुप रहने के बाद काला मोटा आदमी फिर उससे आगे पूछता है, "महाशय, ऐसा करने का उद्देश्य?"

"कोई उद्देश्य नहीं है।"

यह उत्तर सुनने के बाद काला मोटा आदमी गुस्से में टेबल पर एक ज़ोर का मुक्का मारते हुए कहता है,"यह झूठ है।"

कमरे में आया आदमी अब बहुत ही डरते हुए कहता है,"झूठ ही सही!"

"तो फिर सच क्या है?"

"याद नहीं।"

"याद करने की कोशिश कीजिए।"

कमरे में आया आदमी बहुत याद करने की कोशिश करता। जब उसे याद नहीं आता तो वह कहता है,"नहीं! मुझे कुछ भी याद नहीं आ रहा!"

"कुछ भी नहीं।"

"नहीं, कुछ भी नहीं।"

"यह झूठ है। आप निश्चय ही मुझसे कुछ छिपा रहें हैं।"

"आप विश्वास करें, मैं कुछ भी छिपा नहीं रहा।"

यह सुनकर काला मोटा आदमी अपना सिर हिलाते हुए कहता है, "मुझे आपकी बातों पर यक़ीन नहीं है, आप मुझे एक भयानक अपराधी लग रहे हैं। आपको जेल में डालने की ज़रूरत है।"

जेल की बातें सुनते ही इस आदमी का चेहरा मुरझा जाता है। अब वह दुखी स्वर में कहता है,"मेरा अपराध!"

"आपका नाम, आपका निवास, आपका काम सब कुछ गड़बड़ वाला है। यही सब आपका अपराध हैं। सिर्फ़ यही नहीं, आप अपनी भूख मिटाने के लिए चुसनी चुसते हैं। यह भी आपका बहुत बड़ा अपराध है। और इससे भी बड़ा अपराध यह है कि आपका कोई उद्देश्य नहीं है। हर इनसान अपने किसी-न-किसी उद्देश्य को लेकर जीते हैं। मगर आपका कोई उद्देश्य नहीं है। मैं यह मान नहीं सकता। आपको ज़रूर इसकी सजा मिलनी चाहिए।"

यह सब बातें सुनकर कमरे में आए इस आदमी का चेहरा मुरझा जाता है। वह अपना हाथ जोड़कर अब गिड़गिड़ाते हुए कहता है,"सर, आप मुझे ऐसी सजा न दें। मुझको माफ़ कर दीजिए। मुझे यहाँ से जाने दीजिए।"

"कैसे छोड़ दूँ? मैं नहीं छोड़ सकता। आपका नाम, आपके निवास की बातें, आपके काम करने की बातें, यहाँ तक कि मैं आपके चुसनी चाटते रहने की बातें छोड़ सकता हूँ मगर उद्देश्य! आपका कोई उद्देश्य नहीं है, इसे मैं कैसे भूल सकता हूँ!"

अब वह गिड़गिड़ाते हुए कहता है, "सर, मैं आपके पैर पड़ता हूँ। एक बार के लिए मुझे छोड़ दीजिए।"

यह सुनकर काला मोटा आदमी न जाने अब किस सोच में पड़ जाता है। कुछ देर के बाद वह फिर कहता है, "ठीक है, मैं आपको एक महीने का समय देता हूँ। एक महीने के बाद आपको फिर यहाँ लाया जाएगा। लेकिन उस समय मेरे सभी प्रश्नों के सही-सही उत्तर देने होंगे। नहीं तो आपके लिए फिर जेल की सजा तय है।"

इस उत्तर से कमरे में आया यह आदमी अब निश्चित होते हुए कहता है, "ठीक है।" इतना कह वह इस कमरे में अब एक पल के लिए भी रुकता नहीं है। जल्दी ही कमरे से बाहर निकल आता है। रास्ते पर चलते हुए कुछ देर में वह फिर उसी पेड़ के नीचे आ कर खड़ा हो जाता है। कुछ देर बाद उसे तेज़ भूख लगने की आभास होती है। अब वह अपने बैग से चुसनी निकालकर उसे फिर से चुसने लगता है। चुसनी चुसते हुए वह सब कुछ भूल जाता है। सब कुछ भूल जाने के बाद वह सोचने लगता है: मेरा नाम क्या है? मैं कहाँ रहता हूँ? मैं क्या करता हूँ? मैं क्या खाता हूँ? मेरे जीवन का क्या उद्देश्य है? मेरे दाहिने पैर का जूता बाएँ पैर में, और बाएँ पैर का जूता दाहिने पैर में क्यों है? वह अब फिर से सोचने लगता है यह सब कुछ...

✦✦✦

हेजलवुड स्कूल, पोस्ट : साँढा, हेमनगर, बाजार समिति के पास, छपरा, सारण-841302 (बिहार), मोबाइल नंबर. 7004748332 इमेल: agyat dilip@gmail.com

बड़ा मूड़

- सुषमा मुनीन्द्र

समर के मौके तलाशती जूही (आमोद की पत्नी) तत्काल वल्गा सम्भाल लेती ''भाई, हम लोग कॉलोनी में रहते हैं। कॉलोनी की एक तहजीब होती है। सिपाही की गाय काबू में नही आ रही थी। तुम पैंट घुटनों तक चढ़ा कर नंगे पैर गाय को पकड़ने की कवायद करने लगे। सिपाही बहुत छोटा कर्मचारी है।''

बड़ा मूड़ ने जूही को ऐसे देखा जैसे तुच्छ को देख रहा है।

''गोरू को काबू करना सबको नहीं आता बहू। मैंने बहिन जी की दो तगड़ी गइया और दो बड़े कुत्तों सेफी और सैडो को चराया है। आमोद से तुम दोनों की शिकायत करूँगा।''

कभी – कभी वक्त जस का तस वापसी करता है।

बड़ा मूड़, बाबू के साथ पुराने पिलपिले पुश्तैनी घर में लौट आया है। अपने थानेदार भाई आमोद की उतरन (खाकी बुशर्ट) पहन ली है। बंद पड़े घर में रखी साइकिल की ग्रीसिंग कर पुराने मार्ग से होकर पुराने मालिक के बँगले में पुरानी चाकरी माँगने जा रहा है।

बड़ी अदा से चाकरी छोड़ी थी –

''बहिन जी तीनों भाई नौकरी पा गये हैं। मुझे चपरासगिरी करते देख उन्हें बुरा लगने लगा है। कहते हैं तुम बहुत काम किये। अब हम कमायेंगे, तुम बइठ कर खाना।''

बैठ कर खाना जैसे ख्याल से बड़ा मूड़ की छाती और गर्दन तनी हुई थी।

बाला ने हँसते हुये उसे बहलाने का प्रयास किया –

''सुबोध, मैंने तुम्हें चपरासी नहीं हमेशा घर का सदस्य माना है। तुम्हें नहीं जाने दूँगी।''

''जाना पड़ेगा। आमोद पुलिस की नौकरी में है। परमोद कॉलेज में जीव जंतु (जीव विज्ञान विषय) पढ़ाता है। विनोद बैंक में लग गया है।''

''नहीं जाओगे। मैं और साहब अपने स्कूल में व्यस्त रहते हैं। ध्वज और धर्म (जुड़वा पुत्र), गाय, घर, बगीचा सबको तुम देखते हो।''

''मैंने कहा था पर भाई कहते हैं तुम बहिन जी के बँधुआ मजदूर नहीं हो जो काम नहीं छोड़ सकते।''

राजपाट सम्भालने जैसे उत्साह में बड़ा मूड़ अतिरेक से भरा व्यवहार कर रहा था। नहीं जानता था चाकरी पर लौटना पड़ेगा।

चार मोटी रोटी बाँध कर सुबह बँगले पर पहुँचते, शाम सात – आठ पर लौटते हुये उसे यह मार्ग इतना अपना लगने लगा था जैसे प्रदेश सरकार ने खास उसके लिये बनवाया है। पहले बड़े-बड़े डग भरता पैदल आता –जाता था। फिर बिना कैरियर, सीट कवर, घंटी, ब्रेक वाली साइकिल पर झूमते हुये आने – जाने लगा। जिस दिन पहला वेतन मिला था पहला ख्याल आया बाबू की तरह कमाने लगा है। अम्मा को वेतन सौंपते हुये लहक कर बोला था –

''अम्मा, अब न कह पाओगी खाता तीन बेर हूँ, करता कुछ नहीं।''

वेतन एक नियमित राशि थी, साथ ही भाइयों की पढ़ाई के लिये बाला से कितनी बार उधार माँगा अब उसे याद नहीं है। बाला पहले धिक्कारती फिर उधार देती। बड़ा मूड़ सह लेता था कि भाई खूब पढ़ –

लिख कर बड़े आदमी बनेंगे। भाई बड़े आदमी बन गये। उनकी पत्नियॉ उनसे बड़ी। उनके बच्चे उनसे बड़े।

आमोद का घर –

आमोद की बड़ी पुत्री क्षितिजा ने खुलकर कहा ''ताऊ जब मेरी फ्रेण्ड्स आयें अपने कमरे में रहा करो। चले आते हो ट्रे में चार गिलास रख पानी छलकाते हुये। वे लोग तुम्हें चपरासी समझती हैं।''

बड़ा मूड़ के स्नायु तन गये ''मैं आमोद को न पढ़ाता तो वह चपरासी भी न बनता।''

2

समर के मौके तलाशती जूही (आमोद की पत्नी) तत्काल वल्गा सम्भाल लेती ''भाई, हम लोग कॉलोनी में रहते हैं। कॉलोनी की एक तहजीब होती है। सिपाही की गाय काबू में नही आ रही थी। तुम पैंट घुटनों तक चढ़ा कर नंगे पैर गाय को पकड़ने की कवायद करने लगे। सिपाही बहुत छोटा कर्मचारी है।''

बड़ा मूड़ ने जूही को ऐसे देखा जैसे तुच्छ को देख रहा है।

''गोरू को काबू करना सबको नहीं आता बहू। मैंने बहिन जी की दो तगड़ी गइया और दो बड़े कुत्तों सेफी और सैडो को चराया है। आमोद से तुम दोनों की शिकायत करूँगा।''

ड्यूटी से लौटे आमोद से बड़ा मूड़ ने प्रसंग कहा –

''आमोद, बहू और छितिजा को मैं चपरासी लगता हूँ।''

''मेरे चपरासी के साथ बैठ कर बीड़ी पीते हो। दरबार लगाते हो। चपरासी ही लगोगे।''

बड़ा मूड़ के लेखे यह अनोखी व्याख्या थी।

''नहीं रखना चाहते तो बता दो। परमोद के घर चला जाऊँ। यहॉ चुपरी रोटी नहीं मिल रही है कि अहसान मानूँगा।''

''घर में दो बातें होती रहती हैं। थोड़ा निभा कर चलो।''

बड़ा मूड़ को बाला का बँगला बहुत याद आता। फुर्सत में वह, ड्राइवर, रसोइया बीड़ी पीते हुये पूरे जगत की बात करते थे। रसोइया कहता –

''बहिन जी, नहा कर जब गुसल से बिलाउज, पेटीकोट में निकलती हैं, फिर आँगन में साड़ी पहिरती हैं, बड़ा मजा आता है।''

बड़ा मूड़ को कौतुक न होता ''मेरी अम्मा यही करती है।''

ड्राइवर हँसता ''अम्मा और बहिन जी में अंतर होता है। ''सुबोध तुम न समझोगे।

तुम्हारी कद काठी बढ़ गई है, बाकी दिमाग कमजोर है।''

वह खुद को समझदार सिद्ध करने में जोर लगा देता ''बहिन जी बहुत अच्छी हैं। हमको चपरासी नहीं मनई समझती हैं।''

बाला ने उसे चपरासी नहीं समझा लेकिन आमोद के परिवार को वह चपरासी लगता है। कभी उसके खाने को लेकर एतराज, कभी कपड़े लत्ते, कभी तौर – तरीके को लेकर। वह अड़ गया प्रमोद के घर जायेगा। प्रमोद की फीस भरी है, नेकर पहनाई है, साइकिल सिखाई है। बाला ने उसे मजबूत साइकिल दी थी। प्रमोद ने हथिया ली।

''सुबोध, पैदल आते हो। देर कर देते हो। ध्वज ने नई साइकिल ली है। यह तुम ले लो। जल्द आ जाया करोगे।''

बड़ा मूड़ को लगा था साइकिल नहीं चार्टर्ड प्लेन मिल गया है।

''थैंक यू बहिन जी।''

धर्म और ध्वज ने सिखाया है कोई मदद करे तो उसे धन्यवाद देना चाहिये।

वह रफ्तार से साइकिल भगाते हुये घर पहुँचा था –

''बाबू, बहिन जी ने साइकिल दी। बड़ी मजबूत है।''

बाबू ने उसकी पीठ ठोंक दी ''सम्भाल कर चलाना।''

''मैं बहुत अच्छी साइकिल चलाता हूँ बाबू।''

प्रमोद को साइकिल लुभा रही थी –

''भाई, मुझे दे दो। खटारा साइकिल से कॉलेज जाता हूँ। संगी साथी हँसते हैं।''

''एकदम नहीं। बाबू तो कभी-कभी अपनी साइकिल मुझे दे देते हैं, तुम अपनी खटारा छूने नहीं देते।''

3

अम्मा पक्षपात में सदा निपुण रही ''बड़ा मूड़, आमोद को दे दो। तुम उसकी ले लो। आमोद की सारी ताकत खटारा को खींचने में चली जाती है।''

बड़ा मूड़ को अम्मा ने हमेशा नापसंद किया। सुंदर अम्मा का विवाह असुंदर बाबू से हुआ तो बड़ा मूड़ क्या करे ? भगवान ने उसे बाबू की सूरत दी है तो क्या करे ? अम्मा ने जुमला बना लिया – वही करिया भुसुण्ड रंग, चपटी नाक, जटाजूट बाल। तुम्हें साथ ले जाने में लाज लगती है। बाबू का तो दिमाग फिर भी ठीक है, तुम्हारा इतना बड़ा मूड़ है पै दिमाग खाली है।''

उसका शीश अपेक्षाकृत बड़ा है। आयु के अनुसार बुद्धि विकसित नहीं है। अम्मा ने उसका नाम बड़ा मूड़ कर दिया। वह भूलने लगा था उसका नाम सुबोध है। स्कूल में हाजिरी लेते हुये गुरू जी सुबोध .....

सुबोध पुकारते रहते। यह ऐसा निश्चेष्ट बैठा रहता जैसे बगल वाले विद्यार्थी का नाम सुबोध है। विद्यार्थी सामूहिक स्वर में कहते –

''सुबोध हाजिरी बोल।''

बड़ा मूड़ झटके से खड़ा होता ''उपस्थित गुरू जी'' गुरू जी अपने पास बुलाते और कान उमेठ देते ''सोता है कक्षा में ?''

जब बाला ने नाम पूँछा था इसके मुँह से अभ्यासवश बड़ा मूड़ ही निकला था। वह विद्यार्थियों की तरह नहीं हँसी थी लेकिन विस्मय से बोली थी –

''स्कूल वाला नाम बताओ।''

''सुबोध।''

बँगले का रसोइया जो बाबू का दूर का नातेदार था, ने बाबू की अरज पर बड़ा मूड़ को काम दिलाते हुये बाला से कहा था –

''बहिन जी, सुबोध बुद्धि से कुछ कमजोर है पर मेहनती है। घर और बगीचे को चकाचक रखेगा।''

बड़ा मूड़ ने तभी तय कर लिया था ईमानदारी से काम करेगा। इसीलिये मजबूत साइकिल प्रमोद को दे, प्रमोद की खटारा से बँगले आते हुये अफसोस में था। बहिन जी कह सकती हैं साइकिल कहॉ बेच आया। बाला ने नहीं लेकिन साहब ने कारण पूछा –

''सुबोध, ध्वज की साइकिल से क्यों नहीं आये ?''

''साहब, मेरा भाई प्रमोद कॉलेज जाता है। उसने ले ली। यह उसकी है।''

''कितनी ही मदद करो रहोगे दालिद्र्य ही। न हुलिया बदलेगा न चालाकी।''

''साहब सॉरी।''

उसने गर्दन औंधाकर धिक्कार सह लिया। अम्मा बिना गाली दिये थाली में रोटी न रखती थी। अब थोड़ा कायदे से परस देती है। वेतन तो है ही, भाईयों की पढ़ाई के लिये उधार भी मिल जाता है। जब फीस के पैसे देता है तीनों भाई उसके चौगिर्द जमा हो जाते हैं –

''भाई तुम्हारा ही आसरा है। बाबू कहते हैं आमोद ग्रेजुयेट हो गया है। नौकरी ढूँढ़ो।''

बड़ा मूड़ कंधे तान लेता ''आमोद तुम आगे पढ़ो। बहिन जी नाराज होती हैं पर उधार दे देती हैं। वेतन से कटता रहता है। अम्मा, बकरी दूध दे रही है न। तीनों को दिया करो। पढ़ने में ताकत लगती है। बहिन जी मुझे रोज एक प्याला दूध देती हैं। स्यामा गाय के दूध में बड़ा स्वाद है। मैं ही दुहता हूँ।''

बासी रोटी के अभ्यस्त बड़ा मूड़ ने बँगले में जाना भोजन में कितनी विविधता होती है। कटलेट, इडली, डोसा, सैंडविच, चीला .....। चतुर रसोइया अधिक मात्रा में बना देता। बाला कह देती – बहुत बना लिये हो। तुम और

4

सुबोध भी खा लो। अम्मा को अपनी अमीरी दिखाने के लिये कभी-कभी खाद्यान्न पोलीथिन में बॉध कर घर ले जाता। स्वाद लेते हुये भाई कहते –

''भाई, तुम तो रोज तर माल उड़ाते हो।''

उसे देख कर गमजदा रहने वाली अम्मा थोड़ा हँसने लगी थी ''हॉ, तर माल खाय के बड़ा मूड़ चिकना रहा है।''

घर की हैसियत कुछ सुधरने लगी थी कि फैक्टरी में काम करते हुये बाबू का दाहिना हाथ कुहनी तक कट गया। उनकी नौकरी चली गई। हताश बाबू ओसारी में बैठे रहते। अम्मा पहले से अधिक चिड़चिड़ी हो गई। भाईयों को पढ़ाई छूटने का भय सताता। मड़ामूड़, बाला के सम्मुख हाथ पसारता –

''बहिन जी घर में आफत आई है। आमोद को नौकरी मिल जाये। आपकी पाई-पाई चुकाऊँगा। परमोद की फीस भरनी है।''

बाला को बोध था बड़ा मूड़ के बिना उसका काम नहीं चल सकता। उधारी के कारण बहुत लगन और एकाग्रता से काम करता है। स्वाभिमानी ऐसा है कि उधारी चुकाने तक काम छोड़ कर नहीं जायेगा। उधारी एक तरह से इसके बने रहने की प्रतिश्रुति है लेकिन उदारता भी नियंत्रण के साथ दिखानी चाहिये।

''सुबोध, तुम्हारी मॉगने की आदत हो गई है।''

''भाईयों को देख कर दया आती है बहिन जी। पाई-पाई चुकाऊँगा।''

बड़ा मूड़ पाई-पाई चुकाने के लिये कृत संकल्प था। पुलिस विभाग में नौकरी लगने पर आमोद ने कहा था –

''भाई, काम छोड़ दो। मैं सम्भाल लूँगा।''

''बहुत उधार चुकाना है आमोद। मैं कर्जा मूड़ में नहीं रखूँगा।''

अम्मा ने शायद पहली बार उसका अनुमोदन किया ''काम न छोड़ना बड़ा मूड़। दुइ पइसा घर में आयेगा तो काम ही देगा।''

आमोद की नौकरी लगते ही वैवाहिक प्रस्ताव आने लगे। बड़ा मूड़ को एकाएक लगने लगा वह भी दूल्हा बनना चाहता है। यही बाबू ने सोचा –

''पहले सुबोध का ब्याह होना चाहिये।''

अम्मा जब भी करती दुनियादारी की बात करती ''बेअकिल से कोई बियाह न करेगा। आमोद का करो।''

बड़ा मूड़ को इतना बुरा लगा कि उसने ब्याह न करने का संकल्प कर लिया। बहिन जी बहुत अच्छी हैं वैसे औरत जात अम्मा की तरह लड़ाका और परपंचिन होती है। इनसे दूरी भली। अम्मा ने उसे आमोद की बारात में नहीं जाने दिया था कि आमोद का प्रभाव खराब हो जायेगा।

फिर प्रमोद की नौकरी लग गई। कॉलेज में जीव विज्ञान पढ़ाते हुये घर गृहस्थी वाला हो गया। विनोद अंतिम साल की पढ़ाई कर रहा था तभी सर्प दंश से अम्मा चल बसी। बड़ा मूड़ को अम्मा कभी सुंदर नहीं लगी। बाबू सुंदर लगते थे। आमोद, प्रमोद, विनोद को अपनी तरह सुंदर और सुघड़ मानते हुये अम्मा तीनों की तरफदारी में लगी रहती थी। अम्मा उसे भली भी नहीं लगती थी। उसकी थाली में धप्प से रोटी पटकती थी कि सेर भर खाता है। बाबू भले लगते थे। सीमेन्ट फैक्टरी से लौट कर उसे अपने पास बैठा लेते। वे कार्ड पर काम करते थे। जिस दिन काम न मिलता घर जल्दी आ जाते। बाबू को घर आया देख वह जितना पुलकित होता अम्मा उतना कुपित हो जाती –

''अइसे तो गिरस्ती न चलेगी।''

वे बड़ा मूड़ को पढ़ाने लगते। बड़ा मूड़ मंद बुद्धि होने के कारण पढ़ाई पूरी तरह ग्रहण न कर पाता। दसवीं बोर्ड में तीसरी बार अनुत्तीर्ण होने तक बीस का हो चला था। आगे की कक्षाओं में जाते छोटे भाई उसे उपेक्षित समझते। बँगले में काम मिला तब बड़ा मूड़ को लगा उसका जनम अकारथ नहीं है। कुछ कर सकता है। अम्मा उसे सुंदर और भली नहीं लगती थी पर उसकी अर्थी को कंधे में उठाते हुये हिलक कर रोया था।

बड़ा मूड़ को अब दोगुनी मेहनत करनी थी।

5

आमोद, प्रमोद पोस्टिंग पर चले गये। विनोद पढ़ाई और बैंक की परीक्षा की तैयारी में लगा रहता। बाबू बॉयें हाथ से घर झाड़-बुहार देते। बकरी को पत्ती-भूसा देते। बड़ा मूड़ खाना बना कर बँगले पर जाता। लौट कर फिर खाना बनाता।

इस घर ने बहुत अभाव देखे पर सबकी नौकरी बड़े मौके पर लगती गई। विनोद ने बैंक की नौकरी मिलते ही जोर दिया –

''भाई, चपरासगिरी छोड़ो। हम लोगों को चार लोग टोकते हैं तो भद्दा लगता है। बहिन जी की उधारी भी चुका दिये हो। सुस्ता लो।''

न बाबू सहमत थे न बड़ा मूड़ पर तीनों भाईयों ने योजना बना ली। विनोद की पत्नी भी बैंक में काम करती थी। वह बाबू को ले गया कि वे घर ताक लेंगे। बड़ा मूड़ आमोद के घर चला गया। आमोद के बड़े भाई की हैसियत से गया था पर उसे निरंतर बोध कराया जा रहा था वह बड़ा भाई नहीं चपरासी है।

माया – काया तज कर प्रमोद के घर आ गया।

प्रमोद का घर –

प्रमोद के उजाड़ पड़े बगीचे को देख बड़ा मूड़ को बँगले की याद आ गई। वह मेहनत से बगीचे को इस तरह व्यवस्थित रखता था कि आगन्तुक कहते थे ऐसा हरा – भरा बगीचा किस्मत की बात है। प्रमोद के सूखे बगीचे को उसने ध्येय बना लिया। ट्यूशन पढ़ने आये विद्यार्थी उसे बगीचे में काम करते देख नयन मटकाते –

''प्रमोद सर इसे पता नहीं कहॉ से पकड़ लाये हैं।''

''किसी जू से पकड़ लाये होंगे। चिम्पाजी के ग्रुप का लगता है।''

''सर इसकी चीर – फाड़ कर इसका इंटरनल स्ट्रक्चर देखेंगे या स्पेसीमेन बना कर लैब में रख लेंगे।''

''यह चिम्पाजी नहीं है। चपरासी है।''

अक्सर ऐसी बातें सुनते हुये बड़ा मूड़ को अंतिम हद पर पहुँचना ही था। प्रमोद की पत्नी निशि कभी उसे रहन – सहन के लिये निर्देश देती है कभी जूही को मोबाइल पर बताती है – भाई ने घर की व्यवस्था बिगाड़ कर रख दी है। समझाओ, कुछ समझते नहीं ..... आपने इन्हें कैसे रखा इतने दिन ..... भारी मुसीबत .....।

अब विद्यार्थी चिम्पाजी कह रहे हैं। तेज धार वाला खुरपा लेकर विद्यार्थियों की जानिब हॉफता हुआ झपटा –

''चपरासी तुम और तुम्हारा बाप। मैं परमोद का बड़ा भाई हूँ। कह दूँगा तो तुम लोगों को इतना बड़ा–बड़ा जीरो देगा। फेल हो जाओगे .....। विद्यार्थी इधर-उधर भागने लगे। कोलाहल सुन प्रमोद बगीचे में आ गया। बड़ा मूड़ तेज डग भरते हुये प्रमोद के समीप जा खड़ा हुआ –

''परमोद, लड़के मुझे चिम्पाजी और चपरासी कहते हैं।''

''भाई, भीतर जाओ।''

''लड़कों से कहो मुझे सॉरी बोलें।''

उसने बँगले में रहते हुये जाना गलती करने पर सॉरी बोलना चाहिये। बँगले में उसने असंख्य बार सॉरी बोला है। साहब के मेहमानों के लिये ट्रे में पानी छलकाते हुये ले गया था तब ..... ध्वज और धर्म का क्रिकेट बैट उससे टूट गया था तब ..... गाय ने उसकी असावधानीवश क्यारी में लगी पालक चर ली थी तब ....., उधारी मॉगी तब .....।

''सॉरी बोलें ? भाई क्या बेवकूफी है ? भीतर जाओ।''

खुरपा फेंक पैर पटकते हुये बड़ा मूड़ भीतर ऑंगन में आ गया। विद्यार्थियों को ट्यूशन रूम में बैठने को कह प्रमोद ऑंगन में आया –

''भाई, तुम आमोद का घर छोड़ आये पर चीकट वर्दी नहीं छोड़ी। तुम्हें कोई चौकीदार समझ लेता है कोई चपरासी।''

6

बड़ा मूड़ की आवाज में बुलंदी आ गई ''मैं चपरासी ही हूँ। इस चपरासी के वेतन से तुम मास्टर बने हो। निसि मेरे कपड़ा के लिये साबुन – सोड़ा नहीं देती। पानी से फलिहा लेता हूँ। वरदी चीकट तो रहेगी ही। पप्पू (प्रमोद का तीन साल का बेटा) को मेरे पास नहीं आने देती। कहती है उसे बीमारी लग जायेगी। बताओ मुझे कउन बीमारी है ? मैं बहिन जी के धरम और ध्वज के साथ क्रिकेट खेला हूँ। वे बीमार नहीं हुये .....

''स्टूडेन्ट्स सुन रहे हैं।''

''सुना ही रहा हूँ। तुम्हारे घर का एक किस्सा हो तो बताऊँ। निसि कभी खाने के पीछे कांड करती है, कभी टी0वी0 के पीछे, कभी .....

करतूत उजागर होते देख निशि एकाएक प्रकट हो गई –

''भाई, धीरे बोलो। स्टूडेन्ट्स हँस रहे होंगे।''

''हँस रहे होंगे तो ठीक है विनोद के घर चला जाऊँगा।आज की रात सबर कर लो।''

बड़ा मूड़ को विनोद शुरू से कपटी लगता रहा है। बहिन जी ने जो भी अच्छा दिया अम्मा की शह पर इसने हथिया लिया। बरसात में बँगले पहुँचते हुये वह भीग गया था। बहिन जी ने उसे साहब का पुराना नाइट सूट दे दिया कि गीले कपड़े बदल ले। पोषाक पहन कर बड़ा मूड़ को लग रहा था नौटंकी का एक पात्र बन गया है। लज्जा में डूबा हुआ घर पहुँचा। विनोद चमक कर कहने लगा –

''आहा, नाइट सूट। भाई मुझे दे दो। रात में पहन कर सोऊँगा।''

बड़ा मूड़ उपलब्धि से भर गया कि यह तो आधुनिक परिधान है।

''विनोद, साहब ने मुझे दो बहुत मजबूत जींस दी। तुमने ले ली। दर्जी से ठीक करा कर खूब पहनते हो। यह मैं पहनूँगा।''

अम्मा ने निपटारा कर दिया ''बड़ा मूड़ सबकी देह में कपड़ा अच्छा नहीं लगता। विनोद को दे दे।''

बड़ा मूड़ समझ गया सबकी देह अर्थात उसकी देह।

''मुझ पर काहे नहीं अम्मा ? नाक, मुँह, लिलार (ललाट) सब तो अच्छा है।''

''तुम नहीं समझोगे अच्छा किसे कहते हैं।''

ऐसे कपटी विनोद के घर वह नहीं जाना चाहता था पर दूसरी ठौर नहीं। वहॉं बाबू हैं। उनके साथ दु:ख-सुख बॉंट लेगा।

विनोद का घर।

सॉंझ घिरने को थी।

बाबू बाहर मिल गये। विनोद की साल भर की बच्ची बिट्टू को प्रैम में बैठाये बॉंये हाथ से प्रैम ठनगा रहे बाबू चेहरे से पीड़ित लग रहे थे।

''सुबोध तुम ?''

''बिट्टू को गाड़ी में घुमा रहे हो बाबू ?''

''प्रैम को एक हाथ से ठीक तरह सम्भाल नहीं पाता हूँ बेटा। डर लगता है बिट्टू को गिरा न दूँ।''

बड़ा मूड़ बिट्टू को पुचकारने लगा ''कैसी हो बिटिया ?''

उसे देख कर बिट्टू रोने लगी।

''फिर रोने लगी। बहू कहेगी एक बच्ची नहीं सम्भाली जाती। जबकि दिन भर सम्भालता हूँ।''

''विनोदवा बहू को कुछ नहीं कहता ?''

7

''कहता है वह दिन भर बैंक में काम करती है। दोनों वक्त खाना बनाती है। बिट्टू रात भर सोने नहीं देती। कितना करे।''

''कितना दुबरा गये हो बाबू ?''

''मुझ निकम्मे को दो रोटी देते हुये वह पछताती है। दुबला क्या, कहो किसी दिन मर .....

बड़ा मूड़ साफ छिपा गया यहॉं रहने आया है।

''बाबू, तुम्हें लेने आया हूँ। चलो, घर लौट चलें।''

बाबू परदनी के सिरे से ऑंसू पोंछने लगे ''पास में छदाम नहीं है।''

''भीख तो मिलेगी।''

विनोद पत्नी को बार-बार समझाता है बाबू के बिना बिट्टू और घर की देख-रेख नहीं हो सकती। जितना खाते नहीं हैं उससे अधिक मदद करते हैं पर तुमने जहन में बैठा लिया है वे निकम्मे की तरह बैठ कर खाते हैं। चले गये तो कर लेना नौकरी। वह तमक जाती है जायेंगे यदि कोई बुलायेगा।

लो बड़ा मूड़ बुलाने आ गया।

विनोद अड़ गया –

''भाई बाबू यहीं रहेंगे।''

''रहते यदि बाबू की तरह रखते। वे बिट्टू को एक हाथ से कैसे सम्भालते हैं कभी देखते हो ?''

''देखने के लिये तुम यहीं रहने लगो।''

''बाबू की तरह मैं भी सेर भर खाता हूँ। तुम्हारी जोरू नहीं बना पायेगी।''

विनोद की अरज पर भ्रमित न हो बड़ा मूड़, बाबू को लेकर चला आया।

अपना घर।

बंद पड़े घर को खोलते हुये बड़ा मूड़ खूब रोया –

''बाबू, ये तीनों तो घर बेच ही डालते अच्छा हुआ तुम अड़ गये। घर न होता तो सड़क पर रात बितानी पड़ती। मकड़ी ने जाले तान दिये हैं, चूहों ने बिल बना लिये हैं ..... सब ठीक कर व्यवस्था बना लूँगा बाबू ..... बड़े घर के बिछावन में वैसी नींद नहीं आती जैसी कथरी में आती है ..... पता नहीं कब से अपना बनाया खाना नहीं खाया ..... बहुयें रसोई में जाने ही नहीं देती थीं, बाथरूम में भी नहीं कि बाहर नहाओ .....।''

सुबह बड़ा मूड़ कर्म पथ पर चलने के लिये तैयार हो गया। ध्वज की साइकिल को झाड़-पोंछ, पैडल फटकारता बँगले पहुँचा। बाहरी लौह गेट पर ठिठक गया। हुलसता हुआ गया था। लुटा-पिटा लौटा है। गेट इस तरह धीरे से खोला जैसे चोरी-चपारी करने आया है। उसे देख दड़बे में बंद शैडो भोंकने-कूदने लगा। मनुष्य से पशु अच्छे। अपनी केयर करने वाले को नहीं भूलते। साइकिल एक ओर खड़ी कर बड़ा मूड़ शैडो को सहलाने लगा –

''बस ..... बस सैडो। मैं आ गया हूँ। सैम्पू से खूब नहला दूँगा ..... सेफी कहाँ है ? बगीचा तो जैसे बन (वन) हो गया है .....।''

उसने झिझक कर कॉल बेल बजाई। ग्रिल वाले बाहरी बरामदे में आई बाला अचम्भित थी –

''सुबोध तुम ?''

बड़ा मूड़ भावुक है ''कैसी हैं बहिन जी ?''

''ठीक हूँ। अंदर आओ।''

8

बाला ने ग्रिल गेट खोल दिया। बड़ा मूड़ बाला के पीछे-पीछे लिविंग रूम में आ गया।

''सेफी नहीं दिख रही है।''

''शेफी नहीं रही। शैडो अकेला हो गया। बैठो।''

वह फ्लोर पर बैठ गया।

''गइया भी एक ही दिख रही है।''

''तुम्हारे जाने के बाद चरवाहा लगा लिया था। रोज चराने ले जाता था। एक दिन बताया गुम गई।''

''साहब ठीक हैं ?''

''स्कूल पूरा कर धर्म और ध्वज पढ़ाई के लिये दिल्ली चले गये हैं। साहब उनसे मिलने गये हैं।''

''स्कूल ठीक चल रहा है ?''

''हॉ। स्कूल चलाना बड़ी मेहनत का काम है। घर के काम करने का वक्त नहीं मिलता। दो-तीन नौकर रख कर देख लिया। सब चोर-मक्कार। तुम्हारे जैसा ईमानदार कोई नहीं मिला।''

बड़ा मूड़ की छाती और गर्दन तन गई –

''आपने बहुत ममता दी बहिन जी।''

''तुम्हारा कैसा चल रहा है ?''

''भाई लोग अफसर बन गये हैं। मुझे उनके घर में रहने का सहूर नहीं है। अम्मा ठीक कहती थी मैं बेअकिल हूँ।''

''बाबू कैसे हैं ?''

''उन्हें भी गाली मिलती थी। अपने साथ ले आया हूँ। आप कहें तो कल से ड्यूटी पकड़ लूँ ?''

बाला को लगा इतने दिनों बाद आखिर शुभ घड़ी आ गई।

''इस घर को हमेशा तुम्हारी जरूरत रही है सुबोध। आज से काम शुरू कर दो। वेतन बढ़ा दूँगी।''

सोचता था बहिन जी दुत्कार देंगी। जिस अकड़ से गया था आज फिर चला जा पर वे कद्र करना जानती हैं।

''ठीक है बहिन जी। सैडो को नहवा दूँ। दुबरा गया है। बगीचा एकदम सूख गया है।''

''दो-चार नीबू तोड़ कर दो गिलास शर्बत बनाओ। पी लो फिर काम शुरू करो।''

''हौ।''

बड़ा मूड़ बगीचे से नीबू तोड़ कर स्वादिष्ट शर्बत बना लाया। घूँट-घूँट पीते हुये बाला सोच रही थी – इस बेचारे को लोग मंद बुद्धि क्यों कहते है? मंद बुद्धि में क्या ऐसी कार्य क्षमता, लगन, एकाग्रता, ईमानदारी, सेवा भाव होता है?

✦✦✦

द्वारा श्री एम. के. मिश्र, जीवन विहार अपार्टमेन्ट, फ्लैट नं0 7, द्वितीय तल, महेश्वरी स्वीट्स के पीछे, रीवा रोड, सतना (म.प्र.)-485001, मोबाइल: 8269895950

भाषा-क्षेत्र तथा हिंदी भाषा के विविध रूप

- प्रोफेसर महावीर सरन जैन

प्रत्येक भाषा के अनेक भेद होते हैं। किसी भी भाषा-क्षेत्र में एक ओर भाषा-क्षेत्र की क्षेत्रगत भिन्नताओं के आधार पर अनेक भेद होते हैं (यथा – बोली और भाषा) तो दूसरी ओर सामाजिक भिन्नताओं के आधार पर भाषा की वर्गगत बोलियाँ होती हैं। भाषा-व्यवहार अथवा भाषा-प्रकार्य की दृष्टि से भी भाषा के अनेक भेद होते हैं। (यथा- मानक भाषा, उपमानक भाषा अथवा शिष्टेतर भाषा, अपभाषा, विशिष्ट वाग्व्यवहार की शैलियाँ, साहित्यिक भाषा आदि)। विशिष्ट प्रयोजनों की सिद्धि के लिए प्रयोजनमूलक भाषा के अनेक रूप होते हैं जिनकी चर्चा लेखक ने प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान के संदर्भ में की है।[2]

जब भिन्न भाषाओं के बोलने वाले एक ही क्षेत्र में निवास करने लगते हैं तो भाषाओं के संसर्ग से विशिष्ट भाषा प्रकार विकसित हो जाते हैं। (यथा -पिजिन, क्रिओल)। भाषा के असामान्य रूपों के उदाहरण गुप्त भाषा एवं कृत्रिम भाषा आदि हैं।

स्वाधीनता के लिए जब-जब आन्दोलन तेज़ हुआ तब-तब हिंदी की प्रगति का रथ भी तेज़ गति से आगे बढ़ा। हिंदी राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक बन गई। स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व जिन नेताओं के हाथों में था, उन्होंने यह पहचान लिया था कि विगत 600 - 700 वर्षों से हिंदी सम्पूर्ण भारत की एकता का कारक रही है; यह संतों, फकीरों, व्यापारियों, तीर्थ यात्रियों, सैनिकों आदि के द्वारा देश के एक भाग से दूसरे भाग तक प्रयुक्त होती रही है।

मैं यह बात जोर देकर कहना चाहता हूँ कि हिंदी को राष्ट्रभाषा की मान्यता उन नेताओं के कारण प्राप्त हुई जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं थी। बंगाल के केशवचन्द्र सेन, राजा राम मोहन राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस; पंजाब के बिपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय; गुजरात के स्वामी दयानन्द, राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी; महाराष्ट्र के लोकमान्य तिलक तथा दक्षिण भारत के सुब्रह्मण्यम भारती, मोटूरि सत्यनारायण आदि नेताओं के राष्ट्रभाषा हिंदी के सम्बंध में व्यक्त विचारों से मेरे मत की संपुष्टि होती है। हिंदी भारतीय स्वाभिमान और स्वातंत्र्य चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। हिंदी राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक हो गई। इसके प्रचार-प्रसार में सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय नेताओं ने सार्थक भूमिका का निर्वाह किया।

स्वाधीनता के बाद हमारे राजनेताओं ने हिंदी की घोर उपेक्षा की। पहले यह तर्क दिया गया कि हिंदी में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली का अभाव है। इसके लिए वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग बना दिया गया। काम सौंप दिया गया कि शब्द बनाओ। शब्द गढ़ो। शब्द बनाए नहीं जाते। गढ़े नहीं जाते। लोक के प्रचलन एवं व्यवहार से विकसित होते हैं। आयोग ने जिन शब्दों का निर्माण किया, उनमें से अधिकतर शब्द जटिल, क्लिष्ट एवं अप्रचलित थे। प्रशासन के क्षेत्र में शब्दावली बनाने के लिए अलिखित आदेश दिए गए कि प्रत्येक शब्द की स्वीकार्यता के लिए मंत्रालय के अधिकारियों की मंजूरी ली जाए। अधिकारियों की कोशिश रही कि जिन शब्दों का निर्माण हो, वे बाजारू न हों। सरकारी भाषा बाजारू भाषा से अलग दिखनी चाहिए। चूँकि शब्द गढ़ते समय यह ध्यान नहीं रखा गया कि वे सामान्य आदमी को समझ में आ सकें, इस कारण आयोग के द्वारा बनाए गए 80 प्रतिशत शब्द कोशों की शोभा बनकर रह गए हैं।

जब से विश्व के प्रामाणिक संदर्भ ग्रंथों ने यह स्वीकार किया है कि चीनी भाषा के बाद हिंदी के मातृभाषियों की संख्या सर्वाधिक है, कुछ ताकतें हिंदी को उसके अपने ही घर में तोड़ने का कुचक्र एवं षड़यंत्र रच रही हैं। यह भ्रम फैलाया जा रहा है कि हिंदी का मतलब केवल खड़ी बोली है। सामान्य व्यक्ति ही नहीं, हिंदी के तथाकथित विद्वान भी हिंदी का अर्थ खड़ी बोली मानने की भूल कर रहे हैं। हिंदी साहित्य को जिंदगी भर पढ़ाने वाले, हिंदी की रोजी-रोटी खाने वाले, हिंदी की कक्षाओं में हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थियों को विद्यापति, जायसी, तुलसीदास, सूरदास जैसे हिंदी के महान साहित्यकारों की रचनाओं को पढ़ाने वाले अध्यापक तथा इन पर शोध एवं अनुसंधान करने एवं कराने वाले आलोचक भी न जाने किस लालच में या आँखों पर पट्टी बाँधकर यह घोषणा कर रहे हैं कि

हिंदी का अर्थ तो केवल खड़ी बोली है। भाषा-विज्ञान के भाषा-भूगोल एवं बोली-विज्ञान के सिद्धांतों से अनभिज्ञ ये लोग ऐसे वक्तव्य देते हैं जैसे वे भाषा-विज्ञान के भी पंडित हों।

क्षेत्रीय भावनाओं को उभारकर एवं भड़काकर ये लोग हिंदी की संश्लिष्ट परम्परा को छिन्न-भिन्न करने का पाप कर रहे हैं। ऐसे ही लोगों को उत्तर देने तथा हिंदी के विद्वानों को वस्तुस्थिति से अवगत कराने के लिए यह लेख प्रस्तुत है। हिंदी दिवस मनाने की सार्थकता इसमें है कि प्रत्येक हिंदी प्रेमी इस बात का संकल्प करे कि जो ताकतें हिंदी को उसके अपने ही घर में तोड़ने की साजिश रच रही हैं, उनका पूरी ताकत से प्रतिकार किया जाए।[1]

1. भाषा-क्षेत्र

प्रत्येक भाषा के अनेक भेद होते हैं। किसी भी भाषा-क्षेत्र में एक ओर भाषा-क्षेत्र की क्षेत्रगत भिन्नताओं के आधार पर अनेक भेद होते हैं (यथा – बोली और भाषा) तो दूसरी ओर सामाजिक भिन्नताओं के आधार पर भाषा की वर्गगत बोलियाँ होती हैं। भाषा-व्यवहार अथवा भाषा-प्रकार्य की दृष्टि से भी भाषा के अनेक भेद होते हैं। (यथा- मानक भाषा, उपमानक भाषा अथवा शिष्टेतर भाषा, अपभाषा, विशिष्ट वाग्व्यवहार की शैलियाँ, साहित्यिक भाषा आदि)। विशिष्ट प्रयोजनों की सिद्धि के लिए प्रयोजनमूलक भाषा के अनेक रूप होते हैं जिनकी चर्चा लेखक ने प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान के संदर्भ में की है।[2]

जब भिन्न भाषाओं के बोलने वाले एक ही क्षेत्र में निवास करने लगते हैं तो भाषाओं के संसर्ग से विशिष्ट भाषा प्रकार विकसित हो जाते हैं। (यथा -पिजिन, क्रिओल)। भाषा के असामान्य रूपों के उदाहरण गुप्त भाषा एवं कृत्रिम भाषा आदि हैं।

इस आलेख का उद्देश्य भाषा-क्षेत्र की अवधारणा को स्पष्ट करना तथा हिंदी भाषा-क्षेत्र के विविध क्षेत्रीय भाषिक-रूपों के सम्बंध में विवेचना करना है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस सम्बंध में न केवल सामान्य व्यक्ति के मन में अनेक भ्रामक धारणाएँ बनी हुई हैं प्रत्युत हिंदी भाषा के कतिपय अध्येताओं, विद्वानों तथा प्रतिष्ठित आलोचकों का मन भी तत्सम्बंधित भ्रांतियों से मुक्त नहीं है।

2. भाषा क्षेत्र में भाषा के विविध भेद एवं रूप

एक भाषा का जन-समुदाय अपनी भाषा के विविध भेदों एवं रूपों के माध्यम से एक भाषिक इकाई का निर्माण करता है। विविध भाषिक भेदों के मध्य सम्भाषण की सम्भाव्यता से भाषिक एकता का निर्माण होता है। एक भाषा के समस्त भाषिक-रूप जिस क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं उसे उस भाषा का 'भाषा-क्षेत्र' कहते हैं। प्रत्येक 'भाषा क्षेत्र में भाषिक भिन्नताएँ प्राप्त होती हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भाषा की भिन्नताओं का आधार प्रायः वर्णगत एवं धर्मगत नहीं होता। एक वर्ण या एक धर्म के व्यक्ति यदि भिन्न भाषा क्षेत्रों में निवास करते हैं तो वे भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। हिन्दू मुसलमान आदि सभी धर्मावलम्बी तमिलनाडु में तमिल बोलते हैं तथा केरल में मलयालम। इसके विपरीत यदि दो भिन्न वर्णों या दो धर्मों के व्यक्ति एक भाषा क्षेत्र में रहते हैं तो उनके एक ही भाषा को बोलने की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं। हिंदी भाषा क्षेत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी वर्णों के व्यक्ति हिंदी का प्रयोग करते हैं। यह बात अवश्य है कि विशिष्ट स्थितियों में वर्ण या धर्म के आधार पर भाषा में बोलीगत अथवा शैलीगत प्रभेद हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसी भी स्थितियाँ विकसित हो जाती हैं जिनके कारण एक भाषा के दो रूपों को दो भिन्न भाषाएँ समझा जाने लगता है।[3]

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम यह किस प्रकार निर्धारित करें कि उच्चारण के कोई दो रूप एक ही भाषा के भिन्न रूप हैं अथवा अलग-अलग भाषाएँ हैं ? इसका एक प्रमुख कारण यह है कि भाषिक भिन्नताएँ सापेक्षिक होती हैं तथा दो भिन्न भाषा क्षेत्रों के मध्य कोई सीधी एवं सरल विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। यही कारण है कि भाषिक-भूगोल पर कार्य करते समय बहुधा कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। भारत का भाषा-सर्वेक्षण करते समय इसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव ग्रियर्सन को हुआ था। उन्होंने लिखा है कि ''सर्वेक्षण का कार्य करते समय यह निश्चित करने में कठिनाई पड़ी कि वास्तव में एक कथित भाषा स्वतंत्र भाषा है, अथवा अन्य किसी भाषा की बोली है। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का निर्णय देना जिसे सब लोग स्वीकार कर लेंगे, कठिन है। भाषा और बोली में प्रायः वही सम्बन्ध है जो पहाड़ तथा पहाड़ी में है। यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि एवरेस्ट पहाड़ है और हालबर्न एक पहाड़ी, किन्तु इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा को निश्चित रूप से बताना कठिन है।-- - - सच तो यह है कि दो बोलियों अथवा भाषाओं में भेदीकरण केवल पारस्परिक वार्ता सम्बन्ध पर ही निर्भर नहीं करता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है।[4]

व्यावहारिक दृष्टि से जिस क्षेत्र में भाषा के विभिन्न भेदों में पारस्परिक बोधगम्यता होती है, वह क्षेत्र उस भाषा के विभिन्न भेदों का 'भाषा-क्षेत्र' कहलाता है। भिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति परस्पर विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर पाते। इस प्रकार जब एक व्यक्ति अपनी भाषा के माध्यम से दूसरे भाषा-भाषी को भाषा के स्तर पर अपने विचारों, भावनाओं, कल्पनाओं, संवेदनाओं का बोध नहीं करा पाता, तब ऐसी स्थिति में उन दो व्यक्तियों के भाषा रूपों को अलग-अलग भाषाओं के नाम से अभिहित किया जाता है। इस बात को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि जब कोई ऐसा तमिल-भाषी व्यक्ति जो पहले से हिंदी नहीं जानता, हिंदी-भाषी व्यक्ति से बात करता है, तो वह हिंदी-भाषा व्यक्ति द्वारा कही गई बात को भाषा के माध्यम से नहीं समझ पाता, भले ही वह कही गई बात का आशय संकेतों, मुख मुद्राओं, भाव-भंगिमाओं के माध्यम से समझ जाए। इसके विपरीत यदि कन्नौजी बोलने वाला व्यक्ति अवधी बोलने वाले से बातें करता है, तो दोनों को विचारों के आदान-प्रदान करने में कठिनाइयाँ तो होती हैं, किन्तु फिर भी वे किसी न किसी मात्रा में विचारों का आदान-प्रदान कर लेते हैं। भाषा रूपों की भिन्नता अथवा एकता का यह व्यावहारिक आधार है। भिन्न भाषा रूपों को एक ही भाषा के रूप में अथवा अलग-

अलग भाषाओं के रूप में मान्यता दिलाने में ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं उन भाषिक रूपों की संरचना एवं व्यवस्था आदि कारण एवं तथ्य अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं, तथा कभी-कभी 'पारस्परिक बोधगम्यता' अथवा 'एक तरफा बोधगम्यता' के व्यावहारिक सिद्धांत की अपेक्षा अधिक निर्णायक हो जाते हैं। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।ऐतिहासिक कारणों से वैनिशन (Venetian) तथा सिसिली (Sicily) को इटाली भाषा की बोलियाँ माना जाता है, यद्यपि इनमें पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत बहुत कम है। इसी प्रकार लैपिश (Lappish) को एक ही भाषा माना जाता है। इसके अन्तर्गत परस्पर अबोधगम्य भाषिक रूप समाहित हैं। इसके विपरीत राजनैतिक कारणों से डेनिश, नार्वेजियन एवं स्वेडिश को अलग-अलग भाषाएँ माना जाता है। इनमें पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत वैनिशन (Venetian) तथा सिसिली (Sicily) के पारस्परिक बोधगम्यता के प्रतिशत से कम नहीं है। भारतवर्ष के संदर्भ में हिंदी भाषा के पश्चिमी वर्ग की उप-भाषाओं तथा बिहारी वर्ग की उप-भाषाओं के मध्य बोधगम्यता का प्रतिशत कम है। 'बिहारी वर्ग' की उप-भाषाओं पर कार्य करने वाले भाषा-वैज्ञानिकों ने उनमें संरचनात्मक भिन्नताएँ भी पर्याप्त मानी हैं। इतना होने पर भी सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं ऐतिहासिक कारणों से भोजपुरी एवं मगही बोलने वाले अपने को हिंदी भाषा-भाषी मानते हैं। ये भाषिक रूप हिंदी भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत समाहित हैं। इसके विपरीत यद्यपि असमिया एवं बांग्ला में पारस्परिक बोधगम्यता एवं संरचनात्मक साम्यता का प्रतिशत कम नहीं है तथापि ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों से इनके बोलने वाले इन भाषा रूपों को भिन्न भाषाएँ मानते हैं। इसी कारण कुछ विद्वानों का मत है कि भाषा-क्षेत्र उस क्षेत्र के प्रयोक्ताओं की मानसिक अवधारणा है। भाषा-क्षेत्र में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियों के प्रयोक्ता अपने-अपने भाषिक-रूप की पहचान उस भाषा के रूप में करते हैं। विशेष रूप से जब वे किसी भिन्न भाषा-भाषी-क्षेत्र में रहते हैं तो वे अपनी अस्मिता की पहचान उस भाषा के प्रयोक्ता के रूप में करते हैं।

यदि दो भाषा-क्षेत्रों के मध्य कोई पर्वत या सागर जैसी बड़ी प्राकृतिक सीमा नहीं होती अथवा उन क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों के अलग-अलग क्षेत्रों में उनके सामाजिक सम्पर्क को बाधित करने वाली राजनैतिक सीमा नहीं होती तो उन भाषा क्षेत्रों के मध्य कोई निश्चित एवं सरल रेखा नहीं खींची जा सकती। प्रत्येक दो भाषाओं के मध्य प्रायः ऐसा 'क्षेत्र' होता है जिसमें निवास करने वाले व्यक्ति उन दोनों भाषाओं को किसी न किसी रूप में समझ लेते हैं। ऐसे क्षेत्र को उन भाषाओं का 'संक्रमण-क्षेत्र कहते हैं।

जिस प्रकार अपभ्रंश और हिंदी के बीच किसी एक वर्ष की 'काल रेखा' निर्धारित नहीं की जा सकती, फिर भी एक युग 'अपभ्रंश-युग' कहलाता है और दूसरा हिंदी, मराठी, गुजराती आदि 'नव्यतर भारतीय आर्य भाषाओं का युग' कहलाता है उसी प्रकार यद्यपि हिंदी और मराठी के बीच (अथवा अन्य किन्हीं दो भाषाओं के बीच) हम किलोमीटर या मील की कोई रेखा नहीं खींच सकते फिर भी एक क्षेत्र हिंदी का कहलाता है और दूसरा मराठी का। ऐतिहासिक दृष्टि से अपभ्रंश और हिंदी के बीच एक 'सन्धि-युग' है जो इन दो भाषाओं के काल-निर्धारण का काम करता है। संकालिक दृष्टि से दो भाषाओं के बीच 'संक्रमण-क्षेत्र' होता है जो उन भाषाओं के क्षेत्र को निर्धारित करता है।

प्रत्येक भाषा-क्षेत्र में भाषिक भेद होते हैं। हम किसी ऐसे भाषा क्षेत्र की कल्पना नहीं कर सकते जिसके समस्त भाषा-भाषी भाषा के एक ही रूप के माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान करते हों। यदि हम वर्तमानकाल में किसी ऐसे भाषा-क्षेत्र का निर्माण कर भी लें जिसकी भाषा में एक ही बोली हो तब भी कालान्तर में उस क्षेत्र में विभिन्नताएँ विकसित हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि किसी भाषा का विकास सम्पूर्ण क्षेत्र में समरूप नहीं होता। परिवर्तन की गति क्षेत्र के अलग-अलग भागों में भिन्न होती है। विश्व के भाषा-इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण प्राप्त नहीं है जिसमें कोई भाषा अपने सम्पूर्ण क्षेत्र में समान रूप से परिवर्तित हुई हो।

भाषा और बोली के युग्म पर विचार करना सामान्य धारणा है। सामान्य व्यक्ति भाषा को विकसित और बोली को अविकसित मानता है। सामान्य व्यक्ति भाषा को शिक्षित,शिष्ट, विद्वान एवं सुजान प्रयोक्ताओं से जोड़ता है और बोली को अशिक्षित, अशिष्ट, मूर्ख एवं गँवार प्रयोक्ताओं से जोड़ता है। भाषाविज्ञान इस धारणा को अतार्किक और अवैज्ञानिक मानता है। भाषाविज्ञान भाषा को निम्न रूप से परिभाषित करता है - "भाषा अपने भाषा-क्षेत्र में बोली जाने वाली समस्त बोलियों की समष्टि का नाम है"[5]।

हम आगे भाषा-क्षेत्र के समस्त सम्भावित भेद-प्रभेदों की विवेचना करेंगे।

व्यक्ति बोलियाँ

एक भाषा क्षेत्र में 'एकत्व' की दृष्टि से एक ही भाषा होती है, किन्तु 'भिन्नत्व' की दृष्टि से उस भाषा क्षेत्र में जितने बोलने वाले निवास करते हैं उसमें उतनी ही भिन्न व्यक्ति-बोलियाँ होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति भाषा के द्वारा समाज के व्यक्तियों से सम्प्रेषण-व्यवहार करता है। भाषा के द्वारा अपने निजी व्यक्तिव का विकास एवं विचार की अभिव्यक्ति करता है। प्रत्येक व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व का प्रभाव उसके अभिव्यक्तिकरण व्यवहार पर भी पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति के अनुभवों, विचारों, आचरण पद्धतियों, जीवन व्यवहारों एवं कार्यकलापों की निजी विशेषताएँ होती हैं। समाज के सदस्यों के व्यक्तित्व की भेदक भिन्नताओं का प्रभाव उनके व्यक्ति-भाषा-रूपों पर पड़ता है और इस कारण प्रत्येक व्यक्ति बोली (idiolect) में निजी भिन्नताएँ अवश्य होती हैं। व्यक्ति बोली के धरातल पर एक व्यक्ति जिस प्रकार बोलता है, ठीक उसी प्रकार दूसरा कोई व्यक्ति नहीं बोलता। यही कारण है कि हम किसी व्यक्ति को भले ही न देखें मगर मात्र उसकी आवाज़ को सुनकर उसको पहचान लेते हैं।

यदि भिन्नताओं को और सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो यह बात कही जा सकती है कि स्वनिक स्तर पर कोई भी व्यक्ति एक ध्वनि को उसी प्रकार दोबारा उच्चारित नहीं कर सकता। यदि एक व्यक्ति 'प', ध्वनि का सौ बार उच्चारण करता है तो वे 'प्' ध्वनि के सौ स्वन होते हैं। इन स्वनों की भिन्नताओं को हमारे कान नहीं पहचान पाते। जब भौतिक ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनि-यन्त्रों की सहायता से इसका अध्ययन किया जाता है तो

ध्वनि यन्त्र इनके सूक्ष्म अन्तरों को पकड़ पाने की क्षमता रखते हैं। 'स्वनिक स्तर' पर प्रत्येक ध्वनि का प्रत्येक उच्चारण एक अलग स्वन होता है।

जिस प्रकार दार्शनिक धरातल पर बौद्ध दर्शन के अनुसार इस संसार के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है उसी प्रकार भाषा के प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक ध्वनि का प्रत्येक उच्चारण यत्किंचित भिन्नताएँ लिए होता है तथा जिस प्रकार अद्वैतवादी के अनुसार इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही परमात्म-तत्त्व की सत्ता है उसी प्रकार एक भाषा क्षेत्र में व्यवहृत होने वाले समस्त भाषिक रूपों को एक ही भाषा के नाम से पुकारा जाता है।

यदि उच्चारण की स्वनिक भिन्नताओं को छोड़ दें तो एक भाषा-क्षेत्र में उस भाषा-जन-समुदाय के जितने सदस्य होते हैं उतनी ही उसमें व्यक्ति-बोलियाँ होती हैं। उन समस्त व्यक्ति-बोलियों के समूह का नाम भाषा है।

बोली

भाषा-क्षेत्र की समस्त व्यक्ति-बोलियों एवं उस क्षेत्र की भाषा के मध्य प्रायः बोली का स्तर होता है। भाषा की क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताओं को क्रमशः क्षेत्रगत एवं वर्गगत बोलियों के नाम से पुकारा जाता है। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि भाषा की संरचक बोलियाँ होती हैं, तथा बोली की संरचक व्यक्ति बोलियाँ।

इस प्रकार तत्त्वतः बोलियों की समष्टि का नाम भाषा है। 'भाषा क्षेत्र' की क्षेत्रगत भिन्नताओं एवं वर्गगत भिन्नताओं पर आधारित भाषा के भिन्न रूप उसकी बोलियाँ हैं। बोलियों से ही भाषा का अस्तित्व है। इस प्रसंग में, यह सवाल उठाया जा सकता है कि सामान्य व्यक्ति अपने भाषा-क्षेत्र में प्रयुक्त बोलियों से इतर जिस भाषिक रूप को सामान्यतः 'भाषा' समझता है वह फिर क्या है। वह असल में उस भाषा क्षेत्र की किसी क्षेत्रीय बोली के आधार पर विकसित 'उस भाषा का मानक भाषा रूप' होता है।

इस दृष्टि के कारण ऐसे व्यक्ति 'मानक भाषा' या 'परिनिष्ठित भाषा' को मात्र 'भाषा' नाम से पुकारते हैं तथा अपने इस दृष्टिकोण के कारण 'बोली' को भाषा का भ्रष्ट रूप, अपभ्रंश रूप तथा 'गँवारू भाषा' जैसे नामों से पुकारते हैं। वस्तुतः बोलियाँ अनौपचारिक एवं सहज अवस्था में अलग-अलग क्षेत्रों में उच्चारित होने वाले रूप हैं जिन्हें संस्कृत में 'देश भाषा' तथा अपभ्रंश में 'देसी भाषा' कहा गया है। भाषा का 'मानक' रूप समस्त बोलियों के मध्य सम्पर्क सूत्र का काम करता है। भाषा की क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताएँ उसे बोलियों के स्तरों में विभाजित कर देती हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बोलियों के स्तर पर विभाजित भाषा के रूप निश्चित क्षेत्र अथवा वर्ग में व्यवहृत होते हैं जबकि प्रकार्यात्मक धरातल पर विकसित भाषा के मानक रूप, उपमानक रूप, विशिष्ट रूप (उपभाषा, गुप्त भाषा आदि) पूरे भाषा क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं, भले ही इनके बोलने वालों की संख्या न्यूनाधिक हो।

प्रत्येक उच्चारित एवं व्यवहृत भाषा की बोलियाँ होती हैं। किसी भाषा में बोलियों की संख्या दो या तीन होती हैं तो किसी में बीस-तीस भी होती है। कुछ भाषाओं में बोलियों का अन्तर केवल कुछ विशिष्ट ध्वनियों के उच्चारण की भिन्नताओं तथा बोलने के लहजे मात्र का होता है, जबकि कुछ भाषाओं में बोलियों की भिन्नताएँ भाषा के समस्त स्तरों पर प्राप्त हो सकती हैं। दूसरे शब्दों में, बोलियों में ध्वन्यात्मक, ध्वनिग्रामिक, रूपग्रामिक, वाक्यविन्यासीय, शब्दकोषीय एवं अर्थ सभी स्तरों पर अन्तर हो सकते हैं। कहीं-कहीं ये भिन्नताएँ इतनी अधिक होती हैं कि एक सामान्य व्यक्ति यह बता देता है कि अमुक भाषिक रूप का बोलने वाला व्यक्ति अमुक बोली क्षेत्र का है।

किसी-किसी भाषा में क्षेत्रगत भिन्नताएँ इतनी व्यापक होती हैं तथा उन भिन्न भाषिक-रूपों के क्षेत्र इतने विस्तृत होते हैं कि उन्हें सामान्यतः भाषाएँ माना जा सकता है। इसका उदाहरण चीन देश की मंदारिन भाषा है, जिसकी बोलियों के क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हैं तथा उनमें से बहुत-सी परस्पर अबोधगम्य भी हैं। जब तक यूगोस्लाविया एक देश था तब तक क्रोएशियाई और सर्बियाई को एक भाषा की दो बोलियाँ माना जाता था। यूगोस्लाव के विघटन के बाद से इन्हें भिन्न भाषाएँ माना जाने लगा है। ये उदाहरण इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि पारस्परिक बोधगम्यता के सिद्धांत की अपेक्षा कभी-कभी सांस्कृतिक एवं राजनैतिक कारण अधिक निर्णायक भूमिका अदा करते हैं।

हिंदी भाषा क्षेत्र में भी 'राजस्थानी' एवं 'भोजपुरी' के क्षेत्र एवं उनके बोलने वालों की संख्या संसार की बहुत सी भाषाओं के क्षेत्र एवं बोलने वालों की संख्या से अधिक है। 'हिंदी भाषा-क्षेत्र' में, सामाजिक-सांस्कृतिक समन्वय के प्रतिमान के रूप में मानक अथवा व्यावहारिक हिंदी सामाजिक जीवन में परस्पर आश्रित सह-सम्बन्धों की स्थापना करती है। सम्पूर्ण हिंदी भाषा क्षेत्र में मानक अथवा व्यावहारिक हिंदी के उच्च प्रकार्यात्मक सामाजिक मूल्य के कारण ये भाषिक रूप 'हिंदी भाषा' के अन्तर्गत माने जाते हैं। इस सम्बंध में आगे विस्तार से चर्चा की जाएगी।

3. भाषा-क्षेत्र की क्षेत्रगत भिन्नताओं के सम्भावित स्तर

अभी तक हमने किसी भाषा-क्षेत्र में तीन भाषिक स्तरों की विवेचना की है:-

(1) व्यक्ति-बोली, (2) बोली, (3) भाषा

व्यक्ति-बोलियों के समूह को 'बोली' तथा बोलियों के समूह को 'भाषा' कहा गया है। जिस प्रकार किसी भाषा के व्याकरण में शब्द एवं वाक्य के बीच अनेक व्याकरणिक स्तर हो सकते हैं उसी प्रकार भाषा एवं बोली एवं व्यक्ति-बोली के बीच अनेक भाषा स्तर हो सकते हैं। इन अनेक स्तरों के निम्न में से कोई एक अथवा अनेक आधार हो सकते हैं –

I. भाषा क्षेत्र का विस्तार एवं फैलाव

II. उस भाषा क्षेत्र के विविध उपक्षेत्रों की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक स्थितियाँ

III. भाषा-क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सामाजिक और भावात्मक सम्बन्ध

उपभाषा

यदि किसी भाषा में बोलियों की संख्या बहुत अधिक होती है तथा उस भाषा का क्षेत्र बहुत विशाल होता है तो पारस्परिक बोधगम्यता अथवा अन्य भाषेतर कारणों से बोलियों के वर्ग बन जाते हैं। इनको 'उप भाषा' के स्तर के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

उपबोली

यदि एक बोली का क्षेत्र बहुत विशाल होता है तो उसमें क्षेत्रगत अथवा वर्गगत भिन्नताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। इनको बोली एवं व्यक्ति-बोली के बीच 'उपबोली' का स्तर माना जाता है। उपबोली को कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने पेटवा, जनपदीय बोली अथवा स्थान-विशेष की बोली के नाम से पुकारना अधिक संगत माना है।

इसको इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है कि किसी भाषा क्षेत्र में भाषा की संरचक उपभाषाएँ, उपभाषा के संरचक बोलियाँ, बोली के संरचक उपबोलियाँ तथा उपबोली के संरचक व्यक्ति बोलियाँ हो सकती हैं। व्यक्ति-बोली से लेकर भाषा तक अनेक वर्गीकृत स्तरों का अधिक्रम हो सकता है।

4. हिंदी की समावेशी एवं संश्लिष्ट परम्परा

हिंदी कभी अपने भाषा-क्षेत्र की सीमाओं में नहीं सिमटी। यह हिमालय से लेकर कन्याकुमारी और द्वारका से लेकर कटक तक भारतीय लोक चेतना की संवाहिका रही। सम्पर्क भाषा हिंदी की एक अन्य विशिष्टता यह रही कि यह किसी बँधे बँधाए मानक रूप की सीमाओं में नहीं जकड़ी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि केवल बोलचाल की भाषा में ही यह प्रवृत्ति नहीं है; साहित्य में प्रयुक्त हिंदी में भी यह प्रवृत्ति मिलती है।

हिंदी साहित्य की समावेशी एवं संश्लिष्ट परम्परा रही है, और हिंदी साहित्य के अध्ययन और अध्यापन की भी समावेशी एवं संश्लिष्ट परम्परा रही है। जो पाठक इस परम्परा को विस्तार से जानना चाहते हैं, वे मेरे "हिंदी काव्यभाषा का उद्गम कालीन स्वरूप" शीर्षक लेख का अध्ययन कर सकते हैं।[6] हिंदी की इस समावेशी एवं संश्लिष्ट परम्परा को जानना बहुत जरूरी है तथा इसे आत्मसात करना भी बहुत जरूरी है तभी हिंदी क्षेत्र की अवधारणा को जाना जा सकता है और जो ताकतें हिंदी को उसके अपने ही घर में तोड़ने का कुचक्र रच रही हैं तथा हिंदी की ताकत को समाप्त करने के षड़यंत्र कर रही हैं उन ताकतों के षड़यंत्रों को बेनकाब किया जा सकता है तथा उनके कुचक्रों को ध्वस्त किया जा सकता है।

वर्तमान में हम हिंदी भाषा के इतिहास के बहुत महत्वपूर्ण मोड़ पर खड़े हुए हैं। आज बहुत सावधानी बरतने की जरूरत है। आज हिंदी को उसके अपने ही घर में तोड़ने के जो प्रयत्न हो रहे हैं सबसे पहले उन्हें जानना और पहचानना जरूरी है और इसके बाद उनका प्रतिकार करने की जरूरत है। यदि आज हम इससे चूक गए तो इसके भयंकर परिणाम होंगे। मुझे सन् 1993 के एक प्रसंग का स्मरण आ रहा है। मध्य प्रदेश के तत्कालीन शिक्षा मंत्री ने भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्री को मध्य प्रदेश में 'मालवी भाषा शोध संस्थान' खोलने तथा उसके लिए अनुदान का प्रस्ताव भेजा था। उस समय भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्री श्री अर्जुन सिंह थे जिनके प्रस्तावक से निकट के सम्बंध थे। मंत्रालय ने उक्त प्रस्ताव केन्द्रीय हिंदी संस्थान के निदेशक होने के नाते लेखक के पास टिप्पण देने के लिए भेजा। लेखक ने सोच-समझकर टिप्पण लिखा: "भारत सरकार को पहले यह सुनिश्चित करना चाहिए कि मध्य प्रदेश हिंदी भाषी राज्य है अथवा बुन्देली, बघेली, छत्तीसगढ़ी, मालवी, निमाड़ी आदि भाषाओं का राज्य है"। मुझे पता चला कि उक्त टिप्पण के बाद प्रस्ताव को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया।

एक ओर हिंदीतर राज्यों के विश्वविद्यालयों और विदेशों के लगभग 176 विश्वविद्यालयों एवं संस्थाओं में हजारों की संख्या में शिक्षार्थी हिंदी के अध्ययन-अध्यापन और शोध कार्य में समर्पण-भावना तथा पूरी निष्ठा से प्रवृत्त तथा संलग्न हैं वहीं दूसरी ओर हिंदी भाषा-क्षेत्र में ही अनेक लोग हिंदी के विरुद्ध साजिश रच रहे हैं। सामान्य व्यक्ति ही नहीं, हिंदी के तथाकथित विद्वान भी हिंदी का अर्थ खड़ी बोली मानने की भूल कर रहे हैं।

जब लेखक जबलपुर के विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिंदी एवं भाषाविज्ञान विभाग का प्रोफेसर था, उसके पास विभिन्न विश्वविद्यालयों से हिंदी की उपभाषाओं / बोलियों पर पी-एच. डी. एवं डी. लिट्. उपाधियों के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध जाँचने के लिए आते थे। लेखक ने ऐसे अनेक शोध प्रबंध देखे जिनमें एक ही पृष्ठ पर एक पैरा में विवेच्य बोली को उपबोली का दर्जा दिया दिया गया, दूसरे पैरा में उसको हिंदी की बोली निरूपित किया गया तथा तीसरे पैरा में उसे भारत की प्रमुख भाषा के अभिधान से महिमामंडित कर दिया गया।

इससे यह स्पष्ट है कि शोध छात्रों अथवा शोध छात्राओं को तो जाने ही दीजिए उन शोध छात्रों अथवा शोध छात्राओं के निर्देशक महोदय भी भाषा-भूगोल एवं बोली विज्ञान (Linguistic Geography and Dialectology) के सिद्धांतों से अनभिज्ञ थे।

सन् 2009 में, लेखक ने नामवर सिंह का यह वक्तव्य पढ़ा:

"हिंदी समूचे देश की भाषा नहीं है वरन वह तो अब एक प्रदेश की भाषा भी नहीं है। उत्तरप्रदेश, बिहार जैसे राज्यों की भाषा भी हिंदी नहीं है। वहाँ की क्षेत्रीय भाषाएँ यथा अवधी, भोजपुरी, मैथिल आदि हैं"। इसको पढ़कर मैंने नामवर सिंह के इस वक्तव्य पर असहमति के तीव्र स्वर दर्ज कराने तथा हिंदी के विद्वानों को वस्तुस्थिति से अवगत कराने के लिए लेख लिखा। हिंदी के प्रेमियों से लेखक का यह अनुरोध है कि इस लेख का अध्ययन करने की अनुकंपा करें जिससे हिंदी के कथित बड़े विद्वान एवं आलोचक डॉ. नामवर सिंह जैसे लोगों के हिंदी को उसके अपने ही घर में तोड़ डालने के मंसूबे ध्वस्त हो सकें तथा ऐसी ताकतें बेनकाब हो सकें। जो व्यक्ति मेरे इस कथन को विस्तार से समझना चाहते हैं, वे मेरे 'क्या उत्तर प्रदेश एवं बिहार हिंदी भाषी राज्य नहीं हैं' शीर्षक लेख का अध्ययन कर सकते हैं।[7]

5. हिंदी भाषा-क्षेत्र के क्षेत्रीय भाषिक-रूप

हिंदी भाषा के संदर्भ में विचारणीय है कि अवधी, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, कन्नौजी, खड़ी बोली को बोलियाँ मानें या उपभाषाएँ?

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इनके क्षेत्र तथा इनके बोलने वालों की संख्या काफी विशाल है तथा इनमें बहुत अधिक भिन्नताएँ हैं जिनके कारण इनको बोली की अपेक्षा उपभाषा मानना अधिक संगत है। उदाहरण के रूप में यदि बुन्देली को उपभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है तो पंवारी, लोधान्ती, खटोला, भदावरी, सहेरिया तथा 'छिन्दवाड़ा बुन्देली' आदि रूपों को बुन्देली उपभाषा की बोलियाँ माना जा सकता है। इन बोलियों में एक या एक से अधिक बोलियों की अपनी उपबोलियाँ हैं। उदाहरण के रूप में बुन्देली उपभाषा की 'छिन्दवाड़ा बुन्देली' बोली की पोवारी, गाओंली, राघोबंसी, किरारी आदि उपबोलियाँ हैं इस प्रकार बुन्देली के संदर्भ में व्यक्तिगत बोली, उपबोली, बोली एवं उपभाषा रूप प्राप्त हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार बुन्देली में बोलियाँ एवं उनकी उपबोलियाँ मिलती हैं उसी प्रकार कन्नौजी की बोलियाँ एवं उनकी उपबोलियाँ अथवा हरियाणवी की बोलियाँ एवं उपबोलियाँ प्राप्त नहीं होतीं किन्तु हरियाणवी एवं कन्नौजी को भी वही दर्जा देना पड़ेगा जो हम बुन्देली को देंगे। यदि हम बुन्देली को हिंदी की एक उपभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं तो कन्नौजी एवं हरियाणवी भी हिंदी की उपभाषाएँ हैं। इस दृष्टि से हिंदी के क्षेत्रगत रूपों के स्तर वर्गीकरण में कहीं उपभाषा एवं बोली के अलग-अलग स्तर हैं तथा कहीं उपभाषा एवं बोली का एक ही स्तर है। यह बहुत कुछ इसी प्रकार है जिस प्रकार मिश्र एवं संयुक्त वाक्यों में वाक्य एवं उपवाक्य के स्तर अलग-अलग होते हैं किन्तु सरल वाक्य में एक ही उपवाक्य होता है।

हिंदी भाषा के संदर्भ में विचारणीय है कि क्या उपभाषा एवं भाषा के बीच भी कोई स्तर स्थापित किया जाना चाहिए अथवा नहीं।इसका कारण यह है कि जिन भाषा रूपों को हमने उपभाषाएँ कहा है उन उपभाषाओं को ग्रियर्सन ने भाषा-सर्वेक्षण में ऐतिहासिक सम्बंधों के आधार पर 05 वर्गों में बाँटा है तथा प्रत्येक वर्ग में एकाधिक उपभाषाओं को समाहित किया है। ये पाँच वर्ग निम्नलिखित हैं:-

(1) पश्चिमी हिंदी, (2) पूर्वी हिंदी, (3) राजस्थानी, (4) बिहारी, (5) पहाड़ी

इस सम्बंध में लेखक का मत है कि संकालिक भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार के वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं है। जो विद्वान ग्रियर्सन के ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन वर्गों को कोई नाम देना ही चाहते हैं तो वे हिंदी के सन्दर्भ में उपभाषा एवं भाषा के बीच उपभाषा की समूहगत इकाइयों को अन्य किसी नाम के अभाव में 'उपभाषावर्ग' के नाम से पुकार सकते हैं।

इस प्रकार जिस भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है वहाँ भाषा के केवल 3 क्षेत्रगत स्तर होते हैं:-

1. व्यक्ति बोली, 2. बोली, 3. भाषा

हिंदी जैसे विस्तृत भाषा-क्षेत्र में निम्नलिखित क्षेत्रगत स्तर हो सकते हैं:- व्यक्ति बोली, उपबोली, बोली, उपभाषा, उपभाषावर्ग, भाषा।

जो विद्वान हिंदी भाषा की कुछ उपभाषाओं को हिंदी भाषा से भिन्न भाषाएँ मानने के मत एवं विचार प्रस्तुत कर रहे हैं उनके निराकरण के लिए तथा जिज्ञासु पाठकों के अवलोकनार्थ एवं विचारार्थ निम्न टिप्पण प्रस्तुत हैं – 'हिंदी भाषा क्षेत्र' के अन्तर्गत भारत के निम्नलिखित राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेश समाहित हैं – उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार, झारखंड, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, चण्डीगढ़।

भारत के संविधान की दृष्टि से यही स्थिति है।भाषाविज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि प्रत्येक भाषा क्षेत्र में भाषिक भिन्नताएँ होती हैं। हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि प्रत्येक 'भाषा क्षेत्र' में क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताएँ होती हैं तथा बोलियों की समष्टि का नाम ही भाषा है। किसी भाषा की बोलियों से इतर व्यवहार में सामान्य व्यक्ति भाषा के जिस रूप को 'भाषा' के नाम से अभिहित करते हैं वह तत्वतः भाषा नहीं होती। भाषा का यह रूप उस भाषा क्षेत्र के किसी बोली अथवा बोलियों के आधार पर विकसित उस भाषा का 'मानक भाषा रूप'/'व्यावहारिक भाषा रूप' होता है। भाषा विज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति इसी को 'भाषा' कहने लगते हैं तथा 'भाषा क्षेत्र' की बोलियों को अविकसित, हीन एवं गँवारू कहने, मानने एवं समझने लगते हैं।

हम इस संदर्भ में, इस तथ्य को रेखांकित करना चाहते हैं कि भारतीय भाषिक परम्परा इस दृष्टि से अधिक वैज्ञानिक रही है। भारतीय परम्परा ने भाषा के अलग अलग क्षेत्रों में बोले जाने वाले भाषिक रूपों को 'देस भाखा' अथवा 'देसी भाषा' के नाम से पुकारा तथा घोषणा की कि देसी वचन सबको मीठे लगते हैं - ' देसिल बअना सब जन मिट्ठा।'[8]

हिंदी भाषा क्षेत्र में हिंदी की मुख्यतः 20 बोलियाँ अथवा उपभाषाएँ बोली जाती हैं। इन 20 बोलियों अथवा उपभाषाओं को ऐतिहासिक परम्परा से पाँच वर्गों में विभक्त किया जाता है - पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी, राजस्थानी हिंदी, बिहारी हिंदी और पहाड़ी हिंदी।

पश्चिमी हिंदी – 1. खड़ी बोली 2. ब्रजभाषा 3. हरियाणवी 4. बुन्देली 5. कन्नौजी

पूर्वी हिंदी – 1. अवधी 2. बघेली 3. छत्तीसगढ़ी

राजस्थानी – 1. मारवाड़ी 2. मेवाती 3. जयपुरी 4.मालवी

बिहारी – 1. भोजपुरी 2. मैथिली 3. मगही 4. अंगिका 5. बज्जिका

पहाड़ी - 1. कुमाऊँनी 2. गढ़वाली 3. हिमाचल प्रदेश में बोली जाने वाली हिंदी की अनेक बोलियाँ, जिन्हें आम बोलचाल में 'पहाड़ी' नाम से पुकारा जाता है। टिप्पण –

मैथिली

मैथिली को अलग भाषा का दर्जा दे दिया गया है हालांकि हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम में अभी भी मैथिली कवि विद्यापति पढ़ाए जाते हैं तथा जब नेपाल में मैथिली आदि भाषिक रूपों के बोलने वाले मधेसी लोगों पर दमनात्मक कार्रवाई होती है तो वे अपनी पहचान 'हिंदी भाषी' के रूप में उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार मुम्बई में रहने वाले भोजपुरी, मगही, मैथिली एवं अवधी आदि बोलने वाले अपनी पहचान 'हिंदी भाषी' के रूप में करते हैं।

छत्तीसगढ़ी एवं भोजपुरी

जबसे मैथिली एवं छत्तीसगढ़ी को अलग भाषाओं का दर्जा मिला है तब से भोजपुरी को भी अलग भाषा का दर्जा दिए जाने की माँग प्रबल हो गई है। हिंदी को उसके अपने ही घर में तोड़ने का सिलसिला मैथिली एवं छत्तीसगढ़ी से आरम्भ हो गया है। मैथिली पर टिप्पण लिखा जा चुका है। छत्तीसगढ़ी एवं भोजपुरी के सम्बंध में कुछ विचार प्रस्तुत हैं। जब तक छत्तीसगढ़ मध्य प्रदेश का हिस्सा था तब तक छत्तीसगढ़ी को हिंदी की बोली माना जाता था। रायपुर विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान के प्रोफेसर डॉ. रमेश चन्द्र महरोत्रा का सन् 1976 में एक आलेख रायपुर से भाषिकी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ जिसमें हिंदी की 22 बोलियों के अंतर्गत छत्तीसगढ़ी समाहित है।[9]

लेखक भोजपुरी के सम्बंध में भी कुछ निवेदन करना चाहता है। लेखक को जबलपुर के विश्वविद्यालय में डॉ. उदय नारायण तिवारी जी के साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भोजपुरी की भाषिक स्थिति को लेकर अकसर हमारे बीच विचार-विमर्श होता था। उनके जामाता डॉ. शिव गोपाल मिश्र उनकी स्मृति में प्रतिवर्ष व्याख्यानमाला आयोजित करते हैं। दिनांक 26 जून, 2013 को मुझे हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद के श्री बृजेशचन्द्र का 'डॉ. उदय नारायण तिवारी व्याख्यानमाला' निमंत्रण पत्र प्राप्त हुआ। व्याख्यान का विषय था - 'भोजपुरी भाषा'। लेखक ने उसी दिन व्याख्यान के सम्बंध में डॉ. शिव गोपाल मिश्र को जो पत्र लिखा उसका व्याख्यान के विषय से सम्बंधित अंश पाठकों के अवलोकनार्थ अविकल प्रस्तुत हैं –

डॉ. उदय नारायण तिवारी जी ने भोजपुरी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन किया। उनके अध्ययन का वही महत्व है जो सुनीति कुमार चटर्जी के बांग्ला पर सम्पन्न कार्य का है। इस विषय पर हमारे बीच अनेक बार संवाद हुए। कई बार मत भिन्नता भी हुई। जब लेखक भाषा-भूगोल एवं बोली-विज्ञान के सिद्धांतों के आलोक में हिंदी भाषा-क्षेत्र की विवेचना करता था तो डॉ. तिवारी जी इस मत से सहमत हो जाते थे कि हिंदी भाषा-क्षेत्र के अंतर्गत भारत के जितने राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेश समाहित हैं, उन समस्त क्षेत्रों में जो भाषिक रूप बोले जाते हैं, उनकी समष्टि का नाम हिंदी है। खड़ी बोली ही हिंदी नहीं है अपितु यह भी हिंदी भाषा-क्षेत्र का उसी प्रकार एक क्षेत्रीय भेद है जिस प्रकार हिंदी भाषा-क्षेत्र के अन्य अनेक क्षेत्रीय भेद हैं। मगर कभी-कभी उनका तर्क होता था कि खड़ी बोली बोलने वाले और भोजपुरी बोलने वालों के बीच बोधगम्यता बहुत कम होती है। इस कारण भोजपुरी को यदि अलग भाषा माना जाता है तो इसमें क्या हानि है। जब लेखक कहता था कि भाषाविज्ञान का सिद्धांत है कि संसार की प्रत्येक भाषा के 'भाषा-क्षेत्र' में भाषिक भिन्नताएँ होती हैं। हम ऐसी किसी भाषा की कल्पना नहीं कर सकते जिसके भाषा-क्षेत्र में क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताएँ न हों। इस पर डॉ. तिवारी जी असमंजस में पड़ जाते थे। अनेक वर्षों के संवाद के अनन्तर एक दिन डॉ. तिवारी जी ने मुझे अपने मन के रहस्य से अवगत कराया। उनके शब्द थेः

"जब मैं ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अपने अध्ययन के आधार पर विचार करता हूँ तो मुझे भोजपुरी की स्थिति हिंदी से अलग भिन्न भाषा की लगती है मगर जब मैं संकालिक भाषाविज्ञान के सिद्धांतों की दृष्टि से सोचता हूँ तो पाता हूँ कि भोजपुरी भी हिंदी भाषा-क्षेत्र का एक क्षेत्रीय रूप है"।[10]

बहुत से विद्वान यह तर्क देते हैं कि डॉ. उदय नारायण तिवारी ने "भोजपुरी भाषा और साहित्य" शीर्षक ग्रंथ में "भोजपुरी" को भाषा माना है। इस सम्बंध में, लेखक विद्वानों को इस तथ्य से अवगत करना चाहता है कि हिंदी में प्रकाशित उक्त ग्रंथ उनके डी. लिट्. उपाधि के लिए स्वीकृत अंग्रेजी भाषा में लिखे गए शोध-प्रबंध का हिंदी रूपांतर है। डॉ. उदय नारायण तिवारी ने कलकत्ता में सन् 1941 ईस्वी में पहले 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' में एम. ए. की परीक्षा पास की तथा सन् 1942 ईस्वी में डी. लिट्. उपाधि के लिए शोध-प्रबंध पूरा करके इलाहाबाद लौट आए तथा उसे परीक्षण के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जमा कर दिया। आपने अपना शोध-प्रबंध अंग्रेजी भाषा में डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के निर्देशन में सम्पन्न किया तथा डी. लिट्. की उपाधि प्राप्त होने के बाद इसका प्रकाशन 'एशियाटिक सोसाइटी' से हुआ। इस शोध-प्रबंध का शीर्षक है - 'ए डाइलेक्ट ऑफ भोजपुरी'। डॉ. उदय नारायण तिवारी ने इस तथ्य को स्वयं अपने एक लेख में अभिव्यक्त किया है।[11]

राजस्थानी

"श्रीमद्जवाहराचार्य स्मृति व्याख्यानमाला" के अन्तर्गत "विश्व शान्ति एवं अहिंसा" विषय पर व्याख्यान देने सन् 1987 ईस्वी में लेखक का कलकत्ता (कोलकोता) जाना हुआ था। वहाँ श्री सरदारमल जी कांकरिया के निवास पर लेखक का संवाद राजस्थानी भाषा की मान्यता के लिए आन्दोलन चलाने वाले तथा राजस्थानी में "धरती धौरां री" एवं "पातल और पीथल" जैसी कृतियों की रचना करने वाले कन्हैया लाल सेठिया जी से हुआ। उनका आग्रह था कि राजस्थानी को स्वतंत्र भाषा का दर्जा मिलना चाहिए। लेखक ने उनसे अपने आग्रह पर पुनर्विचार करने की कामना व्यक्त की और मुख्यतः निम्न मुद्दों पर विचार करने का अनुरोध किया –

(1) ग्रियर्सन ने ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। स्वाधीनता आन्दोलन में हमारे राष्ट्रीय नेताओं के कारण हिंदी का जितना प्रचार प्रसार हुआ उसके कारण हमें ग्रियर्सन की दृष्टि से नहीं अपितु डॉ. धीरेन्द्र वर्मा आदि भाषाविदों की दृष्टि से विचार करना चाहिए।

(2) राजस्थानी भाषा जैसी कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है। राजस्थान में निम्न क्षेत्रीय भाषिक-रूप बोले जाते हैं –

1. मारवाड़ी, 2. मेवाती, 3. जयपुरी, 4. मालवी (राजस्थान के साथ-साथ मध्य-प्रदेश में भी)

राजस्थानी जैसी स्वतंत्र भाषा नहीं है। इन विविध भाषिक रूपों को हिंदी के रूप मानने में क्या आपत्ति हो सकती है।

(3) यदि आप राजस्थानी का मतलब केवल मारवाड़ी से लेंगे तो क्या मेवाती, जयपुरी, मालवी, हाड़ौती, शेखावाटी आदि अन्य भाषिक रूपों के बोलने वाले अपने-अपने भाषिक रूपों के लिए आवाज़ नहीं उठायेंगे।

(4) भारत की भाषिक परम्परा रही है कि एक भाषा के हजारों भूरि भेद माने गए हैं, मगर अंतरक्षेत्रीय सम्पर्क के लिए एक भाषा की मान्यता रही है।

(5) हिंदी साहित्य की संश्लिष्ट परम्परा रही है। इसी कारण हिंदी साहित्य के अंतर्गत रास एवं रासो साहित्य की रचनाओं का भी अध्ययन किया जाता है।

(6) राजस्थान की पृष्ठभूमि पर आधारित हिंदी कथा साहित्य एवं हिंदी फिल्मों में जिस राजस्थानी मिश्रित हिंदी का प्रयोग होता है उसे हिंदी भाषा क्षेत्र के प्रत्येक भाग का रहने वाला समझ लेता है।

(7) मारवाड़ी लोग व्यापार के कारण भारत के प्रत्येक राज्य में निवास करते हैं तथा अपनी पहचान हिंदी भाषी के रूप में करते हैं। यदि आप राजस्थानी को हिंदी से अलग मान्यता दिलाने का प्रयास करेंगे तो राजस्थान के बाहर रहने वाले मारवाड़ी व्यापारियों के हित प्रभावित हो सकते हैं।

(8) भारतीय भाषाओं के अस्तित्व एवं महत्व को अंग्रेजी से खतरा है। संसार में अंग्रेजी भाषियों की जितनी संख्या है उससे अधिक संख्या केवल हिंदी भाषियों की है। यदि हिंदी के उपभाषिक रूपों को हिंदी से अलग मान लिया जाएगा तो भारत की कोई भाषा अंग्रेजी से टक्कर नहीं ले सकेगी और धीरे-धीरे भारतीय भाषाओं के अस्तित्व का संकट पैदा हो जाएगा।[12]

पहाड़ी

डॉ. सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'पहाड़ी' समुदाय के अन्तर्गत बोले जाने वाले भाषिक रूपों को तीन शाखाओं में बाँटा –

(अ) पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली, (आ) मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी, (इ) पश्चिमी पहाड़ी।

हिंदी भाषा के संदर्भ में वर्तमान स्थिति यह है कि हिंदी भाषा के अन्तर्गत मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी की उत्तराखंड में बोली जाने वाली 1. कुमाऊँनी 2. गढ़वाली तथा पश्चिमी पहाड़ी की हिमाचल प्रदेश में बोली जाने वाली हिंदी की अनेक बोलियाँ हैं जिन्हें आम बोलचाल में 'पहाड़ी' नाम से पुकारा जाता है।

हिंदी भाषा के संदर्भ में विचारणीय है कि अवधी, बुन्देली, ब्रज, भोजपुरी, मैथिली आदि को हिंदी भाषा की बोलियाँ माना जाए अथवा उपभाषाएँ माना जाए। सामान्य रूप से इन्हें बोलियों के नाम से अभिहित किया जाता है किन्तु लेखक ने अपने ग्रन्थ ' भाषा एवं भाषाविज्ञान' में इन्हें उपभाषा मानने का प्रस्ताव किया है। ' - - क्षेत्र, बोलने वालों की संख्या तथा परस्पर भिन्नताओं के कारण इनको बोली की अपेक्षा उपभाषा मानना अधिक संगत है। इसी ग्रन्थ में लेखक ने पाठकों का ध्यान इस ओर भी आकर्षित किया कि हिंदी की कुछ उपभाषाओं के भी क्षेत्रगत भेद हैं जिन्हें उन उपभाषाओं की बोलियों अथवा उपबोलियों के नाम से पुकारा जा सकता है।[13]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन उपभाषाओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। प्रत्येक दो उपभाषाओं के मध्य संक्रमण क्षेत्र विद्यमान है।

6. हिंदी भाषा-क्षेत्र की मानक भाषा

विश्व की प्रत्येक भाषा के विविध बोली अथवा उपभाषा क्षेत्रों में से विभिन्न सांस्कृतिक कारणों से जब कोई एक क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है तो उस क्षेत्र के भाषा रूप का सम्पूर्ण भाषा क्षेत्र में प्रसारण होने लगता है। इस क्षेत्र के भाषारूप के आधार पर पूरे भाषाक्षेत्र की 'मानक भाषा' का विकास होना आरम्भ हो जाता है। भाषा के प्रत्येक क्षेत्र के निवासी इस भाषारूप को 'मानक भाषा' मानने लगते हैं। इसको मानक मानने के कारण यह मानक भाषा रूप 'भाषा क्षेत्र' के लिए सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतीक बन जाता है। मानक भाषा रूप की शब्दावली, व्याकरण एवं उच्चारण का स्वरूप अधिक निश्चित एवं स्थिर होता है एवं इसका प्रचार, प्रसार एवं विस्तार पूरे भाषा क्षेत्र में होने लगता है। कलात्मक एवं सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम एवं शिक्षा का माध्यम यही मानक भाषा रूप हो जाता है। इस प्रकार भाषा के 'मानक भाषा रूप' का आधार उस भाषाक्षेत्र की क्षेत्रीय बोली अथवा उपभाषा ही होती है, किन्तु मानक भाषा होने के कारण चूँकि इसका प्रसार अन्य बोली क्षेत्रों अथवा उपभाषा क्षेत्रों में होता है इस कारण इस भाषारूप पर 'भाषा क्षेत्र' की सभी बोलियों का प्रभाव पड़ता है तथा यह भी सभी बोलियों अथवा उपभाषाओं को प्रभावित करता है। उस भाषा क्षेत्र के शिक्षित व्यक्ति औपचारिक अवसरों पर इसका प्रयोग करते हैं। भाषा के मानक भाषा रूप को सामान्य व्यक्ति अपने भाषा क्षेत्र की 'मूल भाषा', केन्द्रक भाषा', 'मानक भाषा' के नाम से पुकारते हैं। यदि किसी भाषा का क्षेत्र हिंदी भाषा की तरह विस्तृत होता है तथा यदि उसमें 'हिंदी भाषा क्षेत्र' की भाँति उपभाषाओं एवं बोलियों की अनेक परतें एवं स्तर होते हैं तो 'मानक भाषा' के द्वारा समस्त भाषा क्षेत्र में विचारों का आदान-प्रदान सम्भव हो पाता है। भाषा क्षेत्र के यदि आंशिक अबोधगम्य उपभाषी अथवा बोली बोलने वाले परस्पर अपनी उपभाषा अथवा बोली के माध्यम से विचारों का समुचित आदान प्रदान नहीं कर पाते तो इसी मानक भाषा के द्वारा संप्रेषण करते हैं। भाषा विज्ञान में इस प्रकार की बोधगम्यता को 'पारस्परिक बोधगम्यता' न कहकर 'एकतरफ़ा बोधगम्यता' कहते हैं। ऐसी स्थिति में अपने क्षेत्र के व्यक्ति से क्षेत्रीय बोली में बातें होती हैं किन्तु दूसरे उपभाषा क्षेत्र अथवा बोली क्षेत्र के व्यक्ति से अथवा औपचारिक अवसरों पर मानक भाषा के द्वारा बातचीत होती हैं। इस प्रकार की भाषिक स्थिति को फर्गुसन ने बोलियों की परत पर मानक भाषा का अध्यारोपण कहा है।[14] गम्पर्ज़ ने इसे 'बाइलेक्टल' के नाम से पुकारा है।[15]

7. हिंदी भाषा-क्षेत्र एवं सामाजिक संप्रेषण

हिंदी भाषा क्षेत्र में अनेक क्षेत्रगत भेद एवं उपभेद तो है ही; प्रत्येक क्षेत्र के प्रायः प्रत्येक गाँव में सामाजिक भाषिक रूपों के विविध स्तरीकृत तथा जटिल स्तर विद्यमान हैं और यह हिंदी भाषा-क्षेत्र के सामाजिक संप्रेषण का यथार्थ है जिसको जाने बिना कोई व्यक्ति हिंदी भाषा के क्षेत्र

की विवेचना के साथ न्याय नहीं कर सकता। ये हिंदी पट्टी के अन्दर सामाजिक संप्रेषण के विभिन्न नेटवर्कों के बीच संवाद के कारक हैं। इस हिंदी भाषा क्षेत्र अथवा पट्टी के गावों के रहनेवालों के वाग्व्यवहारों का गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है कि ये भाषिक स्थितियाँ इतनी विविध, विभिन्न एवं मिश्र हैं कि भाषा व्यवहार के स्केल के एक छोर पर हमें ऐसा व्यक्ति मिलता है जो केवल स्थानीय बोली बोलना जानता है तथा जिसकी बातचीत में स्थानीयेतर कोई प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता वहीं दूसरे छोर पर हमें ऐसा व्यक्ति मिलता है जो ठेठ मानक हिंदी का प्रयोग करता है तथा जिसकी बातचीत में कोई स्थानीय भाषिक प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। स्केल के इन दो दूरतम छोरों के बीच बोलचाल के इतने विविध रूप मिल जाते हैं कि उन सबका लेखा जोखा प्रस्तुत करना असाध्य हो जाता है। हमें ऐसे भी व्यक्ति मिल जाते हैं जो एकाधिक भाषिक रूपों में दक्ष होते हैं जिसका व्यवहार तथा चयन वे संदर्भ, व्यक्ति, परिस्थितियों को ध्यान में रखकर करते हैं। सामान्य रूप से हम पाते हैं कि अपने घर के लोगों से तथा स्थानीय रोजाना मिलने-जुलने वाले घनिष्ठ मित्रों से व्यक्ति जिस भाषा रूप में बातचीत करता है उससे भिन्न भाषा रूप का प्रयोग वह उनसे भिन्न व्यक्तियों एवं परिस्थितियों में करता है। सामाजिक संप्रेषण के अपने प्रतिमान हैं। व्यक्ति प्रायः वाग्व्यवहारों के अवसरानुकूल प्रतिमानों को ध्यान में रखकर बातचीत करता है।

हम यह कह चुके हैं कि किसी भाषा क्षेत्र की मानक भाषा का आधार कोई बोली अथवा उपभाषा ही होती है किन्तु कालान्तर में उक्त बोली एवं मानक भाषा के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। सम्पूर्ण भाषा क्षेत्र के शिष्ट एवं शिक्षित व्यक्तियों द्वारा औपचारिक अवसरों पर मानक भाषा का प्रयोग किए जाने के कारण तथा साहित्य का माध्यम बन जाने के कारण स्वरूपगत परिवर्तन स्वाभाविक है। प्रत्येक भाषा क्षेत्र में किसी क्षेत्र विशेष के भाषिक रूप के आधार पर उस भाषा का मानक रूप विकसित होता है, जिसका उस भाषा-क्षेत्र के सभी क्षेत्रों के पढ़े-लिखे व्यक्ति औपचारिक अवसरों पर प्रयोग करते हैं। हम पाते हैं कि इस मानक हिंदी अथवा व्यावहारिक हिंदी का प्रयोग सम्पूर्ण हिंदी भाषा क्षेत्र में बढ़ रहा है तथा प्रत्येक हिंदी भाषी व्यक्ति शिक्षित, सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित तथा स्थानीय क्षेत्र से इतर अन्य क्षेत्रों के व्यक्तियों से वार्तालाप करने के लिए इसी को आदर्श, श्रेष्ठ एवं मानक मानता है। गाँव में रहने वाला एक सामान्य एवं बिना पढ़ा लिखा व्यक्ति भले ही इसका प्रयोग करने में समर्थ तथा सक्षम न हो फिर भी वह इसके प्रकार्यात्मक मूल्य को पहचानता है तथा वह भी अपने भाषिक रूप को इसके अनुरूप ढालने की जुगाड़ करता रहता है। जो मजदूर शहर में काम करने आते हैं वे किस प्रकार अपने भाषा रूप को बदलने का प्रयास करते हैं - इसको देखा-परखा जा सकता है।

सन् 1960 में लेखक ने बुलन्द शहर एवं खुर्जा तहसीलों (ब्रज एवं खड़ी बोली का संक्रमण क्षेत्र) के भाषिक रूपों का संकालिक अथवा एककालिक भाषावैज्ञानिक अध्ययन करना आरम्भ किया।[16] सामग्री संकलन के लिए जब लेखक गाँवों में जाता था तथा वहाँ रहने वालों से बातचीत करता था तबके उनके भाषिक रूपों एवं आज लगभग 55 वर्षों के बाद के भाषिक रूपों में बहुत अन्तर आ गया है। अब इनके भाषिक-रूपों पर मानक हिंदी अथवा व्यावहारिक हिंदी का प्रभाव आसानी से पहचाना जा सकता है। इनके भाषिक-रूपों में अंग्रेजी शब्दों का चलन भी बढ़ा है। यह कहना अप्रासंगिक होगा कि उनकी जिन्दगी में और व्यवहार में भी बहुत बदलाव आया है।

मानक हिंदी अथवा व्यावहारिक हिंदी का सम्पूर्ण हिंदी भाषा क्षेत्र में व्यवहार होने तथा इसके प्रकार्यात्मक प्रचार-प्रसार के कारण, यह हिंदी भाषा-क्षेत्र में प्रयुक्त समस्त भाषिक रूपों के बीच सम्पर्क सेतु की भूमिका का निर्वाह कर रहा है।

हिंदी भाषा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस कारण इसकी क्षेत्रगत भिन्नताएँ भी बहुत अधिक हैं।'खड़ी बोली' हिंदी भाषा क्षेत्र का उसी प्रकार एक भेद है ; जिस प्रकार हिंदी भाषा के अन्य बहुत से क्षेत्रगत भेद हैं। हिंदी भाषा क्षेत्र में ऐसी बहुत सी उपभाषाएँ हैं जिनमें पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत बहुत कम है किन्तु ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पूर्ण भाषा क्षेत्र एक भाषिक इकाई है तथा इस भाषा-भाषी क्षेत्र के बहुमत भाषा-भाषी अपने-अपने क्षेत्रगत भेदों को हिंदी भाषा के रूप में मानते एवं स्वीकारते आए हैं। कुछ विद्वानों ने इस भाषा क्षेत्र को 'हिंदी पट्टी' के नाम से पुकारा है तथा कुछ ने इस हिंदी भाषी क्षेत्र के निवासियों के लिए 'हिंदी जाति' का अभिधान दिया है।

वस्तुस्थिति यह है कि हिंदी, चीनी एवं रूसी जैसी भाषाओं के क्षेत्रगत प्रभेदों की विवेचना यूरोप की भाषाओं के आधार पर विकसित पाश्चात्य भाषाविज्ञान के प्रतिमानों के आधार पर नहीं की जा सकती।

जिस प्रकार अपने 29 राज्यों एवं 07 केन्द्र शासित प्रदेशों को मिलाकर भारतदेश है, उसी प्रकार भारत के जिन राज्यों एवं शासित प्रदेशों को मिलाकर हिंदी भाषा क्षेत्र है, उस हिंदी भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत जितने भाषिक रूप बोले जाते हैं उनकी समष्टि का नाम हिंदी भाषा है। हिंदी भाषा क्षेत्र के प्रत्येक भाग में व्यक्ति स्थानीय स्तर पर क्षेत्रीय भाषा रूप में बात करता है। औपचारिक अवसरों पर तथा अन्तर-क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं सार्वदेशिक स्तरों पर भाषा के मानक रूप अथवा व्यावहारिक हिंदी का प्रयोग होता है। आप विचार करें कि उत्तर प्रदेश हिंदी भाषी राज्य है अथवा खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, अवधी, बुन्देली आदि भाषाओं का राज्य है। इसी प्रकार मध्य प्रदेश हिंदी भाषी राज्य है अथवा बुन्देली, बघेली, मालवी, निमाड़ी आदि भाषाओं का राज्य है। जब संयुक्त राज्य अमेरिका की बात करते हैं तब संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत जितने राज्य हैं उन सबकी समष्टि का नाम ही तो संयुक्त राज्य अमेरिका है। विदेश सेवा में कार्यरत अधिकारी जानते हैं कि कभी देश के नाम से तथा कभी उस देश की राजधानी के नाम से देश की चर्चा होती है। वे ये भी जानते हैं कि देश की राजधानी के नाम से देश की चर्चा भले ही होती है, मगर राजधानी ही देश नहीं होता। इसी प्रकार किसी भाषा के मानक रूप के आधार पर उस भाषा की पहचान की जाती है मगर मानक भाषा, भाषा का एक रूप होता है : मानक भाषा ही भाषा नहीं होती। इसी प्रकार खड़ी बोली के आधार पर मानक हिंदी का विकास अवश्य हुआ है किन्तु खड़ी बोली

ही हिंदी नहीं है। तत्वतः हिंदी भाषा क्षेत्र के अन्तर्गत जितने भाषिक रूप बोले जाते हैं उन सबकी समष्टि का नाम हिंदी है। हिंदी को उसके अपने ही घर में तोड़ने के षडयंत्र को विफल करने की आवश्कता है तथा इस तथ्य को बलपूर्वक रेखांकित, प्रचारित एवं प्रसारित करने की आवश्यकता है कि सन् 1991 की भारतीय जनगणना के अन्तर्गत भारतीय भाषाओं के विश्लेषण का जो ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है उसमें मातृभाषा के रूप में हिंदी को स्वीकार करने वालों की संख्या का प्रतिशत उत्तर प्रदेश (उत्तराखंड राज्य सहित) में 90.11, बिहार (झारखण्ड राज्य सहित) में 80.86, मध्य प्रदेश (छत्तीसगढ़ राज्य सहित) में 85.55, राजस्थान में 89.56, हिमाचल प्रदेश में 88.88, हरियाणा में 91.00, दिल्ली में 81.64, तथा चण्डीगढ़ में 61.06 है।[17]

8. हिंदी भाषा-क्षेत्र एवं मंदारिन भाषा-क्षेत्र

जिस प्रकार चीन में मंदारिन भाषा की स्थिति है उसी प्रकार भारत में हिंदी भाषा की स्थिति है। जिस प्रकार हिंदी भाषा-क्षेत्र में विविध क्षेत्रीय भाषिक रूप बोले जाते हैं, वैसे ही मंदारिन भाषा-क्षेत्र में विविध क्षेत्रीय भाषिक-रूप बोले जाते हैं। हिंदी भाषा-क्षेत्र के दो चरम छोर पर बोले जाने वाले क्षेत्रीय भाषिक रूपों के बोलने वालों के बीच पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत बहुत कम है। मगर मंदारिन भाषा के दो चरम छोर पर बोले जाने वाले क्षेत्रीय भाषिक रूपों के बोलने वालों के बीच पारस्परिक बोधगम्यता बिल्कुल नहीं है। उदाहरण के लिए मंदारिन के एक छोर पर बोली जाने वाली हार्बिन और मंदारिन के दूसरे छोर पर बोली जाने वाली शिआनीज़ के वक्ता एक दूसरे से संवाद करने में सक्षम नहीं हो पाते। उनमें पारस्परिक बोधगम्यता का अभाव है। वे आपस में मंदारिन के मानक भाषा रूप के माध्यम से बातचीत कर पाते हैं। मंदारिन के इस क्षेत्रीय भाषिक रूपों को लेकर वहाँ कोई विवाद नहीं है। पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक मंदारिन को लेकर कभी विवाद पैदा करने का साहस नहीं कर पाते। मंदारिन की अपेक्षा हिंदी के भाषा-क्षेत्र में बोले जाने वाले भाषिक-रूपों में पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत अधिक है। यही नहीं सम्पूर्ण हिंदी भाषा-क्षेत्र में पारस्परिक बोधगम्यता का सातत्य मिलता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि हम हिंदी भाषा-क्षेत्र में एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा करे तो निकटवर्ती क्षेत्रीय भाषिक-रूपों में बोधगम्यता का सातत्य मिलता है। हिंदी भाषा-क्षेत्र के दो चरम छोर के क्षेत्रीय भाषिक-रूपों के वक्ताओं को अपने-अपने क्षेत्रीय भाषिक-रूपों के माध्यम से संवाद करने में कठिनाई होती है। कठिनाई तो होती है मगर इसके बावजूद वे परस्पर संवाद कर पाते हैं। यह स्थिति मंदारिन से अलग है जिसके चरम छोर के क्षेत्रीय भाषिक-रूपों के वक्ता अपने-अपने क्षेत्रीय भाषिक-रूपों के माध्यम से कोई संवाद नहीं कर पाते। मंदारिन के एक छोर पर बोली जाने वाली हार्बिन और मंदारिन के दूसरे छोर पर बोली जाने वाली शिआनीज़ के वक्ता एक दूसरे से संवाद करने में सक्षम नहीं हैं मगर हिंदी के एक छोर पर बोली जाने वाली भोजपुरी और मैथिली तथा दूसरे छोर पर बोली जाने वाली मारवाड़ी के वक्ता एक दूसरे के अभिप्राय को किसी न किसी मात्रा में समझ लेते हैं।

यदि चीन में मंदारिन भाषा-क्षेत्र के समस्त क्षेत्रीय भाषिक-रूप मंदारिन भाषा के ही अंतर्गत स्वीकृत है तो उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में हिंदी भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत समाविष्ट क्षेत्रीय भाषिक-रूपों को भिन्न-भिन्न भाषाएँ मानने का विचार नितान्त अतार्किक और अवैज्ञानिक है। लेखक का स्पष्ट एवं निर्भ्रांत मत है कि हिंदी को उसके अपने ही घर में तोड़ने के षड़यंत्रों को बेनकाब करने और उनको निर्मूल करने की आवश्यकता असंदिग्ध है। हिंदी देश को जोड़ने वाली भाषा है। उसे उसके ही घर में तोड़ने का अपराध किसी को नहीं करना चाहिए।

संदर्भ

1. हिंदी देश को जोड़ने वाली भाषा है; इसे उसके अपने ही घर में मत तोड़ो http://www.pravakta.com/hindi-is-the-language-of-hindustan
2. प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान (Functional Linguistics) (हैलिडे के व्यवस्थागत प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान (SFL) के विशेष संदर्भ में) http://www.rachanakar.org/2015/03/functional-linguistics-sfl.html#ixzz3U41DdhAX
3. http://www.scribd.com/doc/22142436/Hindi-Urdu
4. ग्रियर्सन – भारत का भाषा सर्वेक्षण, अनुवादक – डॉ. उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ 42-44 (1959)
5. (क) प्रोफेसर महावीर सरन जैन : हिंदी भाषा का बदलता स्वरूप, क्षितिज, (भाषा-संस्कृति विशेषांक), अंक -8, पृष्ठ 15-19, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, बम्बई (मुम्बई) (1996)
   (ख) प्रोफेसर महावीर सरन जैन : अलग नहीं हैं भाषा और बोली, अक्षर पर्व, अंक -6, (पूर्णांक –23), वर्ष -2, पृष्ठ 15-16, देशबंधु प्रकाशन, रायपुर (दिसम्बर, 1999)
6. अभिनव इमरोज़, वर्ष 4, अंक 1, पृष्ठ 56-60, नई दिल्ली (जनवरी, 2015)
7. क्या उत्तर प्रदेश एवं बिहार हिंदी भाषी राज्य नहीं हैं? (नामवर सिंह ने हाल ही में यह वक्तव्य दिया - "हिंदी समूचे देश की भाषा नहीं है वरन वह तो अब एक प्रदेश की भाषा भी नहीं है। उत्तरप्रदेश, बिहार जैसे राज्यों की भाषा भी हिंदी नहीं है। वहाँ की क्षेत्रीय भाषाएँ यथा अवधी, भोजपुरी, मैथिल आदि हैं।" क्या सचमुच? नामवर के इस वक्तव्य पर असहमति के तीव्र स्वर दर्ज कर रहे हैं केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पूर्व निदेशक प्रोफेसर महावीर सरन जैन)
   रचनाकार: महावीर सरन जैन का आलेख : क्या उत्तर प्रदेश एवं बिहार हिंदी भाषी राज्य नहीं हैं? http://www.rachanakar.org/2009/09/blog-post_08.html#ixzz3WJTL8oNS
8. विशेष अध्ययन के लिए देखें - प्रोफेसर महावीर सरन जैन : भाषा एवं भाषा विज्ञान, अध्याय 4 - भाषा के विविधरूप एवं प्रकार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (1985)
9. डॉ. रमेश चन्द्र महरोत्रा महरोत्रा : "Distance among Twenty-Two Dialects of Hindi depending on the parallel forms of the most frequent sixty-two words of Hindi" भाषिकी प्रकाशन, रायपुर (1976)
10. लेखक द्वारा दिनांक 26 जून, 2013 को विज्ञान परिषद्, प्रयाग (इलाहाबाद) के प्रधान मंत्री डॉ. शिव गोपाल मिश्र को लिखा पत्र
11. श्री उदय नारायण तिवारी : आचार्य सुनीति कुमार चटर्जी – व्यक्तित्व तथा वैदुष्य, सरस्वती, पृष्ठ 169-171 (अप्रैल, 1977)
12. भारत में भारतीय भाषाओं का सम्मान और विकास (http://www.sahityakunj.net/LEKHAK/M/MahavirSaranJain/bharat_mein_Bhartiya_bhashaon_ka_samman_vikaas_Alekh.htm)
13. डॉ. महावीर सरन जैन : भाषा एवं भाषाविज्ञान, पृष्ठ 60, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (1985)
14. डॉयग्लोसिया : वॅर्ड, 15, पृष्ठ 325 – 340.
15. स्पीच वेरिएशन एण्ड द: स्टडी ऑफ इंडियन सिविलाइज़ेशन, अमेरिकन एनथ्रोपोलोजिस्ट, खण्ड 63,पृष्ठ 976- 988.
16. डॉ. महावीर सरन जैन: बुलन्दशहर एवं खुर्जा तहसीलों की बोलियों का संकालिक अध्ययन (ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली का संक्रान्ति क्षेत्र, हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद (1967)
17. http://www.rachanakar.org/2012/09/blog-post_3077html#ixzz2eqRRA0uA

सुशीला कुंज, 123, हरी एंकलावे, चाँदपुर रोड, बुलंदशहर -203001, मो. 09456440756

हिंदी का अखाड़ा और ताल ठोकते सूरमा

- सरोजिनी नौटियाल

हिन्दी जुबान से कलम में क्या आई, भाषा के रूप में इसकी विशृंखलता उजागर हो गई। वर्तनी और वाक्य-रचना की मनमानी से हिन्दी एक ऐसी भाषा लगने लगी जिसका कोई साँचा नहीं था। सब मनचाहे तरीके से 'उस्का', 'उस का' या 'उसका' लिखे जा रहे हैं। एक 'जिनने' लिख रहा है तो दूसरा 'जिन्होंने'। इसी प्रकार 'वहही', 'वही' और 'वोही' - सब लिखे जा रहे हैं। 'हो', 'होवे', 'जायँ', 'जायें'- सब मनमर्जी से चल रहा है ; एकरूपता नहीं थी। इसी प्रकार संयोजक चिह्नों के युक्तियुक्त प्रयोग में कोई निश्चितता दृष्टिगत नहीं हो रही थी। जहाँ 'तब' का प्रयोग होना चाहिए, वहाँ धड़ल्ले से 'तो' लिखा जा रहा है। वचनगत क्रियापदों में स्पष्टता नहीं थी। बहुवचन के साथ भी एकवचन की क्रिया लग रही है। परसर्गों के प्रयोग में भी भारी उलझाव दृष्टिगोचर होने लगा। 'का' और 'को' के प्रयोग में अच्छे पढ़े-लिखों के भी छक्के छूटने लगे।

अगर भाषा के रूप में हिन्दी की बात युग प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से शुरू करें तो कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में हिन्दी नववधू के लिबास में सिमटी हुई थी। भाषा के परिवार में फारसी, उर्दू, ब्रज और अवधी हिन्दी की सास की भूमिका में थीं। सास ममतामयी भी है, तब भी आखिर है तो सास ही! इतनी जल्दी कब्जा भला कहाँ छोड़ सकती है। सासों के वर्चस्व के समक्ष निरीह बहू हिन्दी ने थोड़ा घूँघट उठाना शुरू कर दिया था। कुछ समझ की कमी, कुछ अल्हड़ता। चूकें होती रहती थीं। वैसे वह अपनी सासों की बिरादरी की ही थी, लेकिन चाल नई थी; शहरीपन था। सास का लहजा पुराना था। जल्दी ही बहू अपने नए तेवर से बरामदे–औसारे को झाड़ने-बुहारने वाली किशोरी से तिजोरी की चाबी सँभालने वाली समझदार युवती बन गई; थोड़ी चंट-चालाक हो गई। समय के उस दौर में हिन्दी को चहेती बहू बनने में अधिक समय नहीं लगा।

राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल थी। मुगल कमजोर पड़ गए। मराठे जल्दबाजी में संभावनाओं को खतम कर गए। फिर क्या था, व्यापारी बन कर आए अंग्रेजों ने पूरे ठाठ-बाट से दिल्ली का अधिग्रहण कर लिया। जिसकी दिल्ली, उसका हिन्दुस्तान ! सत्ता उखड़ी, बस्तियाँ उजड़ीं। अफरा-तफरी के उस माहौल में आगरा, दिल्ली, मेरठ आदि शहरों में रहने वालें लोग, खास कर व्यापारी, अन्य स्थानों को पलायन कर गए। उनके साथ-साथ हिन्दी भी अपने संस्कार क्षेत्र से निकल कर व्यवहार क्षेत्र में चली गई। उसका दायरा बढ़ गया। परन्तु मूलतः वह नागरी ही बनी रही।

मुगलों के अवसान के साथ ही फारसी का गट्ठर बँधने लगा था; अंग्रेजी का सूटकेस अभी रास्ते में था; हिन्दी प्रसाधन कक्ष में थी। यह तो सर्वविदित है कि किसी भाषा का जन्म एकाएक नहीं होता है; गमन भी अकस्मात नहीं होता। इसलिए किसी भी काल खंड में एक से अधिक भाषाओं का प्रचलन में रहना असामान्य बात नहीं है। अंतर केवल विदा और अभिनंदन की बेला का होता है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी की संधि पर फारसी का वैभव क्षीण होने लगा था। अंग्रेजी धावा बोलने के लिए सत्ता का दंड हाथ में लिए खड़ी थी। फारसी और अंग्रेजी के बीच के ठहराव में हिन्दी खामोशी से आ डटी।

देखते ही देखते हिन्दी भारतेन्दु की कलम के जरिए लोक जिह्वा से साहित्य में प्रविष्ट हो गई। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के उस काल में देश में सामाजिक और राजनीतिक चेतना जाग्रत करने के लिए पद के लालित्य से अधिक गद्य की गंभीरता की आवश्यकता थी। वैसे भी, गद्यं कवीनाम् निकषं वदन्ति। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य ब्रज भाषा में और हिन्दी की खड़ीबोली में लेख, निबन्ध, नाटक लिखकर आधुनिक हिन्दी साहित्य के नए युग का सूत्रपात किया। आमजन अपने व्यवहार की भाषा को मुद्रित-प्रकाशित देखकर रोमांचित हो गए। तत्कालीन साहित्याकाश में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रताप नारायण मिश्र, अंबिका दत्त व्यास, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी आदि साहित्यकारों ने भाव-भाषा में अपने युग-प्रणेता के पदचिन्हों पर चलकर भारतेन्दु युग को सार्थक कर दिया।

उन्नीसवीं सदी समाप्त होते-होते हिन्दी निर्विवाद रूप से साहित्य, पत्रकारिता और संघर्ष की भाषा बन गई थी। ऐसा ब्रिटिश शासन की दबंगई

का तुर्की-ब-तुर्की जवाब देने के लिए जरूरी भी हो गया था। सुंदर, सलोनी, मधुर और आत्मीय भाव वाली ब्रजभाषा इस काम के लिए संभवतः उपयुक्त नहीं थी।

हिन्दी जुबान से कलम में क्या आई, भाषा के रूप में इसकी विशृंखलता उजागर हो गई। वर्तनी और वाक्य-रचना की मनमानी से हिन्दी एक ऐसी भाषा लगने लगी जिसका कोई साँचा नहीं था। सब मनचाहे तरीके से 'उस्का', 'उस का' या 'उसका' लिखे जा रहे हैं। एक 'जिनने' लिख रहा है तो दूसरा 'जिन्होंने'। इसी प्रकार 'वहही', 'वही' और 'वोही' - सब लिखे जा रहे हैं। 'हो', 'होवे', 'जायँ', 'जायें'- सब मनमर्जी से चल रहा है ; एकरूपता नहीं थी। इसी प्रकार संयोजक चिह्नों के युक्तियुक्त प्रयोग में कोई निश्चितता दृष्टिगत नहीं हो रही थी। जहाँ 'तब' का प्रयोग होना चाहिए, वहाँ धड़ल्ले से 'तो' लिखा जा रहा है। वचनगत क्रियापदों में स्पष्टता नहीं थी। बहुवचन के साथ भी एकवचन की क्रिया लग रही है। परसर्गों के प्रयोग में भी भारी उलझाव दृष्टिगोचर होने लगा। 'का' और 'को' के प्रयोग में अच्छे पढ़े-लिखों के भी छक्के छूटने लगे। इस प्रकार की अनेकानेक विसंगतियों ने भाषाशास्त्रियों को विचलित कर दिया। उनकी भाषाई संवेदनशीलता ने बेलगाम हिन्दी को अनुशासन में बाँधने की आवश्यकता पर बल देना शुरू कर दिया।

यह नहीं कि वे विद्वान, लेखक और भाषाविद् भाषा की स्वतंत्रता और परिवर्नशीलता के पक्षधर नहीं थे अथवा नियमों में जकड़ी संस्कृत भाषा की गति से परिचित नहीं थे। फिर भी एक सुगठित भाषा के लिए वे व्याकरण का महत्व बताने की निरन्तर चेष्टा कर रहे थे। बस, फिर क्या था। हिन्दी को टकसाली भाषा बनाने की कवायद शुरू हो गई। दुर्जनों में भले ही कितने अवगुण हों, लेकिन कार्यसिद्धि को लेकर मतैक्य रहता है। वहीं विद्वानों में शिखा-द्वन्द्व के चलते यह सौभाग्य कहाँ ! सब कुछ शास्त्रार्थ में उलझ जाता है। व्याकरण का राग अलापते-अलापते भाषा के पंडितों ने हिन्दी के मानकीकरण का अखाड़ा तैयार कर दिया। देखते-देखते कई विद्वान अखाड़े में कूद पड़े और ताल ठोकने लगे। कुछ निर्णायक बन गए। बाकी दर्शक दीर्घा में बैठ गए।

अखाड़ा एकाएक नहीं बना। अच्छा-खासा मंच था। जब तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी की प्रयोगजन्य कमियों, दुश्वारियों और समाधान को लेकर एकालाप चला, तब तक वह मंच ही था। आचार्य जी 'सरस्वती' के माध्यम से हिन्दी को अनुशासित करने का बीड़ा उठाए हुए थे। वह स्वयं भी बहुत अनुशासित थे। हिन्दी साहित्य में आचार्य द्विवेदी का क्या स्थान है, तात्कालिक रूप से बस इतना जान लें कि हिन्दी के संस्कार-अनुष्ठान के वे महायाज्ञिक थे। लगभग बीस वर्षों तक दत्तचित्त रहते हुए उन्होंने 'सरस्वती' के संपादन के गुरु दायित्व का निर्वहन किया; उदीयमान लेखकों का मार्गदर्शन किया और पत्रकारों को पत्रकारिता का धर्म बताया। उनकी कर्मनिष्ठा, अनुशासनप्रियता और परिश्रमशीलता से प्रभावित होकर अल्प समयावधि के लिए उनके साथ सहसंपादक के रूप में कार्य करने वाले ओजस्वी पत्रकार और महान देशभक्त गणेश शंकर विद्यार्थी ने हिन्दी के प्रकांड विद्वान, उच्चकोटि के साहित्यकार और तेजस्वी पत्रकार पं. बनारसी दास चतुर्वेदी से आचार्य जी की जीवनी लिखने का आग्रह करते हुए पत्र लिखा-

"आप ऐसा पारखी ही उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है।...आप जानते हैं कि जॉनसन बड़ा होते हुए भी इतना बड़ा न समझा जाता यदि उसकी जीवनी का लेखक बॉसवेल न होता।...पूज्य द्विवेदी जी में कितने ही ऐसे गुण हैं कि आने वाली संतति उन गुणों की कथा सुनकर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप उनके बॉसवेल बन जाइये।"

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी को व्याकरणसम्मत बनाने में आचार्य जी का अप्रतिम योगदान है। साहित्यकारों के मध्य उनका बड़ा सम्मान था। लेकिन ऐसा नहीं था कि उनको चुनौती देने वाले नहीं थे अथवा हिन्दी के पास विद्वानों की कोई कमी थी। भारती के प्रांगण में एक से बढ़ कर एक खिलाड़ी थे। लेकिन भ्रम के शिकार तो बहुत दफे देवता भी हो जाते हैं। एकाध बार आचार्य जी भी हो गए तो आश्चर्य की क्या बात है ! पहला भ्रम उनको यह हुआ कि हिन्दी के भगीरथ वे ही हैं; वे ही द्वारपाल हैं। नागरी के प्रांगण में मजाल है कि कोई निरंकुश विचरण करे। उन्होंने लेखकों की भाषागत त्रुटियों को गिनाना शुरू कर दिया और 'सरस्वती' के माध्यम से भाषा संस्कार का बीड़ा उठाया। तत्कालीन हिन्दी साहित्य के दिग्गजों में खलबली मच गई। किसी ने प्रशंसा की तो कुछेक ने आपत्ति दर्ज कर दी। वस्तुतः आचार्य जी की आलोचना शैली में दूसरे को अल्पज्ञ प्रमाणित करने की अधीरता और स्वयं को हिन्दी का एकमात्र संरक्षक मानने के अहंकार की ध्वनि थी जो भाषा की नब्ज-नाड़ी को जानने वाले भाषा-वैद्याचार्यों के लिए सहना बहुत कठिन था। विशेषकर आत्माराम (बालमुकुंद गुप्त) को यह बात बहुत अखरी। इसलिए नहीं कि आलोचना नहीं होनी चाहिए बल्कि इसलिए कि उनको उस आलोचना का आधार बहुत सतही और समाधान दोषपूर्ण लगा। छद्मनामों की आड़ में अपने-अपने पत्रों के माध्यम से दोनों योद्धाओं के बीच उत्तर-प्रयुत्तर का जो दौर चला, उसने साहित्य-जगत में केवल कौतूहल ही नहीं उदीप्त किया बल्कि साहित्यकारों की भाषिक संवेदनशीलता को भी बढ़ा दिया। इस शब्द-युद्ध के चलते लेखक-पत्रकार, सब भाषा को लेकर सजग हो गए।

आचार्य जी को पीड़ा थी कि जिस भी अखबार को उठाओ या जिस भी पोथी को देखो, वाक्य-रचना में कोई साम्य नहीं। माना, अभी हिन्दी 'अनस्थिर' अवस्था में है, पर इसका मतलब यह तो नहीं कि हिन्दी में स्थिरता लाने का प्रयास ही न किया जाए। 'मुहावरों' की बात अलग है। मुहाविरों को व्याकरण के चश्मे से नहीं देखा जा सकता। लेकिन हिन्दी के बड़े-बड़े, नामी-गिरामी लेखकों की भाषागत त्रुटियों को मुहावरा मान कर कब तक नजरअंदाज किया जा सकता है? सारे के सारे शब्द-समूह को मुहावरे की आड़ नहीं दी जा सकती। ऐसा करना व्याकरण को तिलांजलि देना और भाषा की 'अनस्थिरता' बढ़ाना होगा। हिन्दी को कालसह बनाने के लिए यह बहुत जरूरी है कि वह व्याकरण के विरुद्ध न हो। भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा शिवप्रसाद, काशीनाथ, राधाचरण, बद्रीनारायण आदि विद्वानों की चूकों का छिद्रान्वेषण करके आचार्य जी अपना फैसला सुनाते हैं –

"इस तरह सारी त्रुटियों को हम मुहाविरा नहीं समझते।"

आत्माराम तिलमिला गए। उनको हिन्दी की त्रुटियाँ इतनी असह्य नहीं जान पड़ती जितनी आचार्य जी की व्याख्या। पलटवार करते हुए उन्होंने आचार्य जी को पहले हिदायत दी और फिर अपना फरमान सुनाया – "पहले तो आप किसी से पूछिये कि त्रुटियों को मुहाविरा कैसे समझा करते हैं? फिर यह पूछिये कि मुहाविरा शब्द का ठीक उच्चारण और अर्थ क्या है। जब तक आपको इस शब्द के अर्थ का ज्ञान न हो जाय, तब तक इसका नाम लेकर अपनी हँसी मत कराइये।"

वैसे, किसी भी वाक्य को मुहावरा कैसे कहा जा सकता है ! मुहावरे तो लाक्षणिक अर्थयुक्त पदबंध होते हैं। इनकी एक विशिष्ट संरचना होती है। कुछ अवसरों पर 'मुहावरों में बात मत करो' या 'पहेलियाँ न बुझाओं' जैसे वाक्यों का प्रयोग होता है। मगर वे शब्दशः मुहावरा अथवा पहेली होते नहीं हैं। यह कहने का एक ढंग है। भाव यह है कि बात को सीधे, सरल और स्पष्ट कहें। लेकिन, किसी भाषिक दोष को छुपाने के लिए वाक्य को बस मुहावरा कह देना तो समझ में नहीं आता! आचार्य जी भी मुहावरों में बात कर रहे थे क्या?

यद्यपि आचार्य जी इस तथ्य से भी भली-भाँति परिचित हैं कि व्याकरण भाषा की वृद्धि में बाधक है। भाषा कहीं भयभीत न हो जाए इसलिए मौखिक भाषा को व्याकरण के पाश में जकड़ना सही नहीं है। लेकिन, जहाँ तक लिखित भाषा की बात है, उसका व्याकरण-सम्मत होना आवश्यक है। बड़े-बड़े ग्रन्थ और महाकाव्य जिस भाषा में रचे जाएँ, उस भाषा को ढुलमुल नहीं होना चाहिए। आचार्य जी इस बात से बड़े क्षुब्ध थे कि हिन्दी में अभी तक कोई ढंग का व्याकरण नहीं बना। हिन्दी-हिन्दी में कोई साम्य नहीं है। महज पचास वर्ष पुरानी भाषा आज की भाषा से मेल नहीं खाती। भाषा की अनस्थिरता का यदि यह आलम रहा तो आज से सौ साल के बाद लोग इस हिन्दी को नहीं समझ सकेंगे।

आत्माराम को आचार्य जी की घबराहट से सूत कातने वाली उस देहातन की घबराहट स्मरण हो आई जो शहर आने पर रुई की तमाम गाड़ियों को देख डर गई कि हाय, उसे इतना सूत कातना पड़ेगा ! वे आचार्य जी को आश्वस्त करते हैं – "सौ नहीं ,तीन सौ साल तक की हिन्दी समझी जाती है। सूरदास के पद आजकल के हिन्दी पढ़े अच्छी तरह समझ लेते हैं।"

व्याकरण के साथ आचार्य जी को भाषा की शिष्टता की भी चिन्ता थी। उनका आग्रह था कि हिन्दी की शिष्टता से छेड़खानी न की जाए। 'प्रेम फसफसया' या 'शौक चर्राया' जैसे शब्दों से बचा जाए। यानी आप नहा-धो कर ही हिन्दी में व्यवहार करें।

आचार्य जी हिन्दी की सर्वमान्यता के पक्षधर थे। बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में ही वे भाँप गए थे कि हिन्दी को एक बड़ी जिम्मेदारी के लिए तैयार होने की जरूरत है। वे इसकी व्यापकता को देख रहे थे। इसलिए साहित्य में 'प्रान्तज' और 'क्षणभंगुर' शब्दों के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने अर्थ भी स्पष्ट किया है। 'प्रान्तज' से अभिप्राय किसी क्षेत्र या प्रान्त विशेष में व्यवहृत होने वाला शब्द। यह तो समझ में आ जाता है। 'क्षणभंगुर', किसी कारण विशेष से थोड़े दिनों के लिए जो उत्पन्न हो जाते हैं। आचार्य जी ने तो यही बताया। पर, क्या शब्द भी क्षणभंगुर होते हैं? हम तो 'शब्द ब्रह्म है' सुनते आएँ हैं !

आचार्य जी जिह्वा रूपी मायके में बेपरवाह, बेलौस घूमने वाली हिन्दी को साहित्य रूपी ससुराल के लिए कस रहे थे। मनमानी से बात बिगड़ जाएगी। व्याकरण रूपी आचार संहिता के अभाव में हिन्दी ने भारी उछल-कूद मचा रखी है। लेकिन भाषा पर बात करते-करते आचार्य जी जाने किस व्यामोह में उलझ गए। जगत, जीव और जीवन की बात करने लग गए। कहीं-कहीं तीन कदम चल कर दो कदम पीछे हो जाते। व्याकरण की परमावश्यकता बताते-बताते कहने लग जाते कि व्याकरण से भाषा की 'संचरणशीलता बाधित होती है ;' 'भाषा का विकास अवरुद्ध हो जाता है।' अपने समय के प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं में दोष ढूँढ़ते-ढूँढ़ते युग पुरुष भारतेन्दु बाबू की कलम तक जा पहुँचे। उनके हवाले से अखबार में दिए गए एक पौने दो पंक्ति के विज्ञापन में भाषागत त्रुटियाँ निकाल कर उन्होंने जिस प्रकार से भारतेन्दु बाबू की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाई, वह आचार्य जी के समकालीन भाषा-मर्मज्ञ, साहित्यकार और पत्रकार बालमुकुन्द गुप्त को बहुत नागवार गुजरी। अपने पत्र 'भारतमित्र' में 'आत्माराम' छद्मनाम से अपने 'भाषा की अनस्थिरता' निबन्ध के दस अंक निकाल कर उन्होंने आचार्य जी को जिस तेवर से जवाब दिया, वह किसी ललकार से कम नहीं था। व्यंग्य, कटाक्ष, उपहास की ताल ठोक-ठोक कर वे आचार्य जी पर धूल उड़ाते रहे और आचार्य जी का धूलि-स्नान होता रहा। आत्माराम लिखते हैं-

"आप जानते हैं कि हरिश्चंद्र कौन हैं ? वही, जिसको इस समय के हिन्दी लेखक वर्तमान हिन्दी का जन्मदाता और पालनकर्ता मानते हैं। वही, जिसकी रचनाओं को पढ़कर 'हम पंचन के ट्वालामां' बोलने वाले हिन्दी बोलने को चोंच खोलने लगे हैं।"

उनको एक विज्ञापन के जरिए भारतेन्दु जी के भाषा-ज्ञान पर टिप्पणी करना न तो उचित लगा और न ही आचार्य जी का बताया समाधान सही लगा। भारतेन्दु बाबू का मान-मर्दन करके ही आचार्य जी चुप नहीं बैठे। काशीनाथ को उनके लिखे एक सूचना-संदेश में पकड़ लिया। उर्दू से हिन्दी में आए राजा शिवप्रसाद की छोटी- छोटी असावधानियों को भी आचार्य जी ने इंगित करना नहीं छोड़ा। एक स्थान पर तो व्याकरण के फेर में आचार्य जी ने राजा जी के सही वाक्य को कुछ अटपटा-सा कर दिया। आत्माराम ने अच्छी खबर ली। राजा जी की 'बिजली' को 'बिजुली' बोलने पर आचार्य जी को धोबी पछाड़ देते हुए कहा – "देहात की औरतों को भी द्विवेदी जी ने मात किया। एक बार अवध के एक गाँव में स्त्रियों के मुँह से सुना था, या अब द्विवेदी जी से सुना।"

आत्माराम आचार्य जी की इस आदत से भी खफा थे कि वे हिन्दी लेखकों की भूलों को उनके ग्रन्थों में नहीं इधर-उधर के विज्ञापन या सूचना-संदेशों में ढूँढ़ते हैं। वे द्विवेदी जी की तुलना उस जलपक्षी से करते हैं जिसे किनारे के कीचड़ में ही सब कुछ मिल जाता है, अगाध जल तक जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

आचार्य जी द्वारा प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर तो आत्माराम ने उनकी व्याकरणाग्रही प्रकृति को जिस प्रकार चुनौती दी उससे आचार्य जी अपने बुने वाग्जाल में उलझ गए। आचार्य जी चुप रहने वालों में नहीं थे। फिर हिन्दी तो उनका अस्तित्व था। वे भी ताल ठोकने लगे, पर कोई आवाज ही न

होती। उधर, आत्माराम पटखनियाँ देने में लगे हुए थे। आचार्य जी के बचाव में 'हिन्दी बंगवासी' पत्रिका के संपादक भाषा-प्रवीण पं गोविंद प्रसाद मिश्र मैदान में कूद पड़े। उन्होंने 'आत्माराम की टें-टें' निबंध लिखकर आत्माराम की टीका-टिप्पणी को निराधार बताते हुए आचार्य जी की भाषिक मान्यताओं को पुष्ट करने का प्रयास किया। वह बात अलग है कि उनके उस बचाव-कर्म से तो आचार्य जी क्षुब्ध ही हुए होंगे। आत्माराम भी आचार्य जी को उतना छोटा करना नहीं चाहते थे, जितना वे मिश्र जी के अभियान से हुए जा रहे थे।

आत्माराम ने आचार्य जी के 'भाषा और व्याकरण' निबंध में व्याख्यायित उनके भाषा-दर्शन, भाषा-विचार और भाषा-व्याकरण को चुनौती दी तथा जहाँ पर बात असंगत लगी, उसका अपने सटीक तर्कों से खंडन किया; निवारण किया। यह कहना अनर्गल न होगा कि आत्माराम ने हिन्दी का अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत, परिमार्जित व सहज रूप प्रस्तुत किया। उनकी सरल-सहज हिन्दी को देख कर तो आज से सवा सौ पूर्व की हिन्दी के आधार पर आचार्य जी के अतर्कों को जो छूट मिल सकती थी, उसकी संभावना भी धूमिल हो गई। निश्चित ही जो हिन्दी आचार्य जी की रोक-टोक से हाँपने लगी थी, उसे मानो आत्माराम के भाषा-चिंतन से प्राणवायु मिल गई। दोनों समकालीन हैं, लेकिन दोनों की हिन्दी में एक युग का अंतर लगता है। आत्माराम की हिन्दी में आज की हिन्दी की गति, सहजता और प्रभाव है। आचार्य जी की हिन्दी मार्ग-अवरोधकों से ठिठक-ठिठक जाती है। कहीं-कहीं अटपटी और दिग्भ्रमित हो जाती है। कभी-कभी शब्दों का अनावश्यक जमावड़ा मूल बात को अटका-भटका देता है। कभी वे अपनी ही बात को काटते नजर आते हैं। हिन्दी के लिए व्याकरण का महत्व बताते-बताते वे यह भी कह जाते हैं, 'भाषा तो बदलती रहती है; कोई कितनी दफे बनावैगा व्याकरण?' अरे, यहाँ पर तो पाठक को यह समझ में नहीं आता कि वह भाषा की चिन्ता करे या आचार्य जी की ! फिर वे मौखिक और लिखित भाषा की मीमांसा में फँस जाते हैं। सीधी-सरल बात भाषा के चक्कर में इतनी क्लिष्ट हो जाती है कि वाक्य को एकाधिक बार पढ़ना पड़ता है। शब्दों की अपव्ययिता और विषय के अवांछित विस्तरण से बात की स्वाभाविकता प्रभावित होने लगती है। 'व्याकरणदानी' में भाषा का न तो लालित्य बचा और न जीवनी-शक्ति; वह निष्प्रभावी, बेजान-सी हो गई। कवि कुँवर नारायण की 'बात' कविता का इससे सटीक मुहूर्त क्या होगा !

बात सीधी थी पर एक बार / भाषा के चक्कर में / जरा टेढ़ी फँस गई ...
आखिर वही हुआ जिसका मुझे डर था / जोर जबरदस्ती से बात की चूड़ी मर गई

आचार्य जी ने अपने निबंध मे हिन्दी की 'अनस्थिरता' पर जिस प्रकार से अपनी चिन्ता और आशंका को रखा, उससे आत्माराम को हिन्दी की चिन्ता हो गई। वे आचार्य जी पर – 'विपद तो यह है कि द्विवेदी जी न भाषा जानते हैं और न व्याकरण, और टाँग अड़ाते हैं दोनों में' अथवा 'दो पंक्तियाँ भी आप साफ नहीं लिख सकते, खाली व्याकरण की झोंक में लड़खड़ाते हैं' टिप्पणियाँ कर उस ऐतिहासिक बहस को मात्र चुहलबाजी तक सीमित नहीं रखते वरन् वाक्य दर वाक्य भाषा का परिमार्जन भी करते चलते हैं। आचार्य जी के 'जो भाषा लिखी जाती है, उसकी बात दूसरी है' वाक्य का 'पढ़े-लिखों में जो भाषा बोली जाती है, वह लिखी भी जाती है,' कह कर केवल खंडन ही नहीं करते, बल्कि उनकी वाक्य-रचना का, 'पर लिखने की भाषा की बात दूसरी है,' लिख संशोधन भी करते हैं।

आचार्य जी लिखते हैं- "जिस भाषा में बड़े-बड़े इतिहास, काव्य, नाटक, दर्शन, विज्ञान और कला-कौशल से संबंध रखने वाले महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जाते हैं, उसका शृंखलाबद्ध होना जरूरी है। उसका व्याकरण बनना चाहिए।"

आत्माराम इसी बात को आगे खींच कर जवाब माँगते हैं – "जिस भाषा में बड़े-बड़े उपन्यास, किस्से-कहानी, लतीफे, चुटकुले, अदालतों के फैसले, नामी वक्ता लोगों की वक्तृताएँ, बड़े-छोटे लाटों के दौरे की रिपोर्ट, सामयिक समाचार आदि लिखे जायँ, उसका व्याकरण बने या नहीं ?"

आत्माराम के कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा को उसकी समग्रता में देखने की आवश्यकता है। इसे मौखिक-लिखित माध्यमों अथवा दिल्ली-लखनऊ प्रान्तों के खेमों में नहीं बाँटा जा सकता अथवा भाषा का मतलब केवल साहित्य नहीं होता। भाषा स्वभाव से समावेशी होती हैं। व्यापकता के कारण हिन्दी की कई शैलियाँ हैं और, उनके मध्य परस्पर ग्राह्यता है। संदर्भ की उद्भावना हो तो प्रान्तज क्या किसी दूसरी भाषा का शब्द भी प्रयुक्त हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी और हिन्दी के प्रकांड विद्वान आचार्य जी आजीवन हिन्दी के प्रति पूर्णतया समर्पित रहे। भाषा के रूप में हिन्दी की शिथिलता को दूर करने के महान् कार्य में लगे रहे। जिन महानुभावों की दूरदृष्टि, चिंतन और परिश्रम से हमें तैयार हिन्दी मिली, निस्संदेह, आचार्य जी उनमें अग्रणी थे। वह बात अलग है कि हिन्दी के आचरण में लगे दाग-धब्बों को व्याकरण की थपकी से कूटते - कूटते कभी-कभी वे खुद चोटिल हो जाते थे। आत्माराम ने तो चोटों की ओर इशारा भर किया है। उन्हें भी पता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी भाषा-रचना और पत्रकारिता के प्रतिमान हैं; प्रकाश-स्तम्भ हैं। कलम से भाषा का यदा-कदा फिसल जाना भाषा-निर्माण की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसे लिख कर मिटाना और फिर से नया लिखना कहा जा सकता है। हाँ, इस पुनर्लेखन... नहीं, पुनर्निर्माण में आत्माराम... नहीं, बालमुकुंद गुप्त जैसे भाषा-मर्मज्ञों की बड़ी भूमिका होती है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त और पं. गोविंदनारायण मिश्र जैसे दिग्गजों के बीच वर्ष 1905-06 के दरम्यान चली इस ऐतिहासिक बहस से हिन्दी में निखार आ गया; भाषा को लेकर लेखक चौकन्ने हो गए; खुद आचार्य जी की हिन्दी सुधर गई।

संदर्भ सूची –

1. हिन्दी की अनस्थिरता: एक ऐतिहासिक बहस (संस्करण 1993); संपादक, भारत यायावर; प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. गणेश शंकर विद्यार्थी (प्रथम संस्करण,1996) लेखक, कृष्ण बिहारी मिश्र प्रकाशन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।.
3. राजभाषा भारती (स्वर्ण जयन्ती विशेषांक, जनवरी 2000) भारत सरकार, गृह मंत्रालय, राजभाषा विभाग।
4. भाषा-विज्ञान का रसायन (प्रथम संस्करण,2006); लेखक डॉ. कैलाश नाथ पाण्डेय; प्रकाशन, गाजीपुर, साहित्य-संसद, गाजीपुर।

✦✦✦

176, आराघर, देहरादून, मो. 9410983596, ईमेल: snautiyal1@gmail.com

राजभाषा

विगत 75 वर्षों में राजभाषा हिंदी की विकास यात्रा

- रघुवीर शर्मा

> *फिर भी भारतीय न्याय प्रणाली में अंग्रेजी हावी है। अदालतों की कार्यवाही हिंदी में नहीं होती जबकि अधिकतर न्यायाधीश और अधिवक्ता हिंदी पढ़ना, लिखना और बोलना जानते हैं, हालांकि इसमें कुछ दिक्कतें व्यावहारिक भी हैं। जैसे कई बार न्यायाधीश स्थानीय भाषा नहीं जानते । कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश हमेशा बाहर से आते हैं। इससे सबसे बड़ी दिक्क़त आम आदमी को तब होती है जब उसे पता ही नहीं चल पाता कि कि उसके मामले में क्या हो रहा है । इससे वह न्याय की प्रक्रिया से अपने को जुड़ा हुआ महसूस नहीं कर पाता।*

भारतीय संविधान के 17वें भाग में राजभाषा से संबंधित 09 अनुच्छेद (343-351) हैं। 12, 13 और 14 सितंबर, 1949 को भारत के संविधान सभा की बैठकों में भाषा को लेकर लंबी चर्चा हुई थी । इनमें हिंदी बनाम बंगाली, तेलुगू, संस्कृत और हिंदुस्तानी तथा देवनागरी लिपि बनाम रोमन लिपि इत्यादि पर चर्चा हुई थी और अंत में तय किया गया कि देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी भारत की राजभाषा होगी। संविधान निर्माताओं ने 15 वर्षों तक अंग्रेजी में राजकीय कामकाज की भी स्वीकृति दे दी थी। संभवत: उन्होंने अपेक्षा की होगी कि 1965 के बाद पूरी तरह से हिंदी में कामकाज होने लगेगा और अंग्रेजी में कामकाज बंद हो जाएगा । लेकिन ऐसा हो न सका। हालांकि तत्कालीन गृह मंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने अपने एक वक्तव्य में कहा था-' हम अंग्रेजी को अनिश्चित काल के लिए जीवन दान दे रहे हैं, अनंत काल के लिए नहीं लेकिन राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने गृह मंत्री के इस वाक्य हो उद्धृत करते हुए अपना मत व्यक्त किया था, जिस प्रकार सरकार इस बारे में कार्य करती है, उससे मुझे भय होता है कि 'कल-कल' की बात अनंतकाल तक बढ़ जाएगी । दिनकर हिंदी को राजभाषा बनाए जाने और फिर 15 वर्षों के बाद उसकी समयावधि बढ़ाने को लेकर संशंकित थे।

हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का विचार तो आज़ादी से पहले ही मज़बूत हो चुका था और गांधीजी ने 1921 में ही कहा था 'अंग्रेजी के ज्ञान के बिना भी भारतीय मस्तिष्क का सर्वोच्च विकास संभव होना चाहिए । अंग्रेजी से प्रेरणा लेने की गलत भावना से छुटकारा होना स्वराज्य के लिए अत्यावश्यक है ।' जब संविधान लागू हुआ तो उसमें एक प्रावधान किया गया कि संविधान के लागू होने के 15 वर्षों तक अंग्रेजी चलती रहेगी । 15 वर्षों के बाद अगर संसद को लगता है कि आगे भी इस प्रावधान की जरूरत पड़ेगी तो वह कानून बनाकर इसे लागू रख सकती है ।

1963 तक पूरे देश में ऐसी स्थिति बन गई जिससे स्पष्ट हो गया कि संविधान लागू होने के 15 वर्ष के बाद यानी 1965 में शासन के कामकाज की भाषा हिंदी नहीं बन पाएगी। वर्ष 1963 में तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने संसद में घोषणा कर दी कि ' जब तक अहिंदी भाषी राज्य अंग्रेजी को चलाना चाहेंगे, तब तक हिंदी के साथ-साथ केंद्र में अंग्रेजी भी चलती रहेगी ।' नेहरू जी का यही वक्तव्य बाद में राजभाषा अधिनियम, 1963 का आधार बना। राजभाषा अधिनियम, 1963 की धारा 4(1) में व्यवस्था की गई कि उक्त अधिनियम की धारा 3 के प्रवृत्त होने की तारीख (अर्थात 26 जनवरी, 1965) के दस वर्ष की समाप्ति के पश्चात राजभाषा समिति गठित की जाएगी । इस प्रकार जनवरी, 1976 से संसदीय राजभाषा समिति का गठन किया गया । इस समिति में 30 सदस्यों का प्रावधान किया गया जिसमें से 20 लोक सभा के तथा 10 राज्य सभा के सदस्य होते हैं । राजभाषा अधिनियम 1963 की धारा 4(3) के अनुसार इस समिति का कर्तव्य निर्धारित किया गया कि वह संघ के राजकीय प्रयोजनों में हिंदी के प्रयोग में की गई प्रगति की समीक्षा करे और उस पर अपनी सिफ़ारिशें राष्ट्रपति को प्रतिवेदन के रूप में प्रस्तुत करे । जब इस समिति की पहली बैठक हुई तो उसी में

निर्णय लिया गया कि इसकी तीन उप समितियां गठित की जाएं ताकि विभिन्न विभागों, उपक्रमों, कार्यालयों आदि में मौके पर ही जाकर हिंदी के प्रयोग की स्थिति की समीक्षा की जा सके। तब से लेकर आज तक इस समिति की कुल 03 उप समितियों ने 14,600 से अधिक कार्यालयों का निरीक्षण किया है। समिति अब तक अपने प्रतिवेदन के ग्यारह खंड राष्ट्रपति जी को प्रस्तुत कर चुकी है और इनमें से 09 खंड़ों में की गई सिफ़ारिशों पर राष्ट्रपति जी के आदेश भी हो चुके हैं।

अब तक सौंपे गए ये प्रतिवेदन केंद्रीय सरकार के कार्यालयों में अनुवाद की व्यवस्था, यांत्रिक सुविधाओं में हिंदी तथा अंग्रेजी का प्रयोग, कर्मचारियों के हिंदी शिक्षण और उनके हिंदी माध्यम से प्रशिक्षण, सरकारी कार्यालयों तथा उपक्रमों आदि में हिंदी प्रयोग की स्थिति, विधायन की भाषा और विभिन्न न्यायालयों तथा न्यायाधिकरणों आदि में प्रयोग की जाने वाली भाषा, संघ तथा राज्य सरकारों व संघ राज्य क्षेत्रों के बीच पत्राचार, विधि संबंधी कार्यों में राजभाषा हिंदी की स्थिति आदि विविध विषयों से संबंधित हैं। इस प्रकार संसदीय राजभाषा समिति के निरंतर प्रयासों से संघ की राजभाषा के रूप में हिंदी की स्थिति मज़बूत हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं।

अब मैं उन क्षेत्रों की चर्चा करना चाहूंगा जहां अभी भी बहुत कुछ किए जाने की गुंजाइश है। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है अदालतों के कामकाज में हिंदी का प्रयोग। अभी हाल ही में (30 अप्रैल, 2022 को) मुख्यमंत्रियों और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों के संयुक्त सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए, माननीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों में स्थानीय भाषा में कार्यवाही की पैरवी की। उन्होंने कहा कि न्याय जनता से जुड़ा हुआ होना चाहिए और जनता की भाषा में होना चाहिए। इसी कार्यक्रम में देश के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश एन.वी. रमणा ने भी भारतीय न्याय प्रणाली के भारतीयकरण पर जोर देते हुए उच्चतम और उच्च न्यायालयों में स्थानीय भाषा में कार्यवाही की आवश्यकता को रेखांकित किया।

जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है, भारतीय संविधान के 17वें भाग में राजभाषा से संबंधित 09 अनुच्छेद (343-351) हैं। इन्हीं में से एक, अनुच्छेद 348 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सारी कार्यवाही अंग्रेजी भाषा में होगी। हालांकि अनुच्छेद 348 (2) में यह प्रावधान है कि किसी राज्य का राज्यपाल, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से वहां के उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों में हिंदी भाषा का या उस राज्य के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने वाली किसी अन्य भाषा का प्रयोग प्राधिकृत कर सकता है। परंतु न्यायालय के निर्णय, डिक्री और आदेश फिर भी अंग्रेजी में ही होंगे। गौरतलब है कि इसी शक्ति का प्रयोग करके भारत के कुछ राज्यों जैसे राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार ने अपने-अपने उच्च न्यायालयों में हिंदी को प्राधिकृत कर रखा है। इसीलिए इलाहाबाद उच्च न्यायालय जैसे देश के बड़े न्यायालय में लोग आराम से हिंदी में बहस कर सकते हैं यदि मंचासीन न्यायाधीश हिंदी भाषा को समझते हों।

फिर भी भारतीय न्याय प्रणाली में अंग्रेजी हावी है। अदालतों की कार्यवाही हिंदी में नहीं होती जबकि अधिकतर न्यायाधीश और अधिवक्ता हिंदी पढ़ना, लिखना और बोलना जानते हैं, हालांकि इसमें कुछ दिक्कतें व्यावहारिक भी हैं। जैसे कई बार न्यायाधीश स्थानीय भाषा नहीं जानते। कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश हमेशा बाहर से आते हैं। इससे सबसे बड़ी दिक्क़त आम आदमी को तब होती है जब उसे पता ही नहीं चल पाता कि कि उसके मामले में क्या हो रहा है। इससे वह न्याय की प्रक्रिया से अपने को जुड़ा हुआ महसूस नहीं कर पाता। शायद ऐसी ही स्थिति को ध्यान में रखते हुए पूर्व मुख्य न्यायाधीश एन. वी. रमणा ने चेन्नई में एक आयोजन में कहा था कि न्यायिक प्रक्रिया विवाह के मंत्रों जैसी जटिल नहीं होनी चाहिए, जिसे लोग समझ ही न सकें।

इसीलिए माननीय केंद्रीय गृह मंत्री जी ने संसदीय राजभाषा समिति की 37वीं बैठक की अध्यक्षता करते हुए हिंदी को पूरे देश में अंग्रेजी के विकल्प के रूप में विकसित करने की वक़ालत की थी जिसे लागू करने के लिए निश्चित तौर पर बड़े प्रयत्नों और श्रम की आवश्यकता पड़ेगी। खासकर विधि के क्षेत्र में हिंदी का प्रयोग तभी गति पकड़ सकता है जब विश्वविद्यालयों में हिंदी माध्यम से विधि के शिक्षण की व्यवस्था हो। यह बात इंजीनियरिंग और मेडिकल के क्षेत्रों पर भी उतनी ही लागू है। नई शिक्षा नीति 2020 ने यह उम्मीद जगाई है कि हिंदी और भारतीय भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के तौर पर जगह मिल सकेगी। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भारतीय भाषाओं की भूमिका को स्वीकार किया गया है और भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की बात कही गई है। इसमें स्कूल स्तर से बहुभाषिकता को बढ़ावा देने के लिए तीन भाषा के फार्मूले को जल्द लागू करने का प्रस्ताव है। प्रसन्नता की बात है कि इस शिक्षा नीति में 8वीं अनुसूची में शामिल भाषाओं सहित सभी भाषाओं को विकसित किए जाने पर बल दिया गया है। देश के अमृतकाल में यह एक उल्लेखनीय प्रसंग है। वर्ष 1964-66 में दौलत सिंह कोठारी आयोग ने भी अपनी मुख्य अनुशंसा में यही कहा था कि न केवल स्कूली शिक्षा, बल्कि उच्च शिक्षा भी अपनी भाषा में दी जानी चाहिए। इसके लिए विभिन्न भारतीय भाषाओं में उच्चतर गुणवत्ता वाली सामग्री विकसित करने का संकल्प लिया गया है।

इस प्रकार पिछले 75 वर्षों में राजभाषा हिंदी ने जहाँ एक ओर अनेक चुनौतियों का सामना किया है, वहीं अपनी अभिव्यक्ति के लिए नये-नये अवसरों की भी तलाश की है। यह तलाश तब तक जारी रहेगी जब तक हिंदी को उसका मुकम्मल स्थान नहीं प्राप्त हो जाता।

✦✦✦

फ्लैट नंबर डी -704, 7वां तल, एम आई जी घरौंदा, केडीपी गोल चक्कर के पास, राजनगर एक्सटैन्शन, गाज़ियाबाद-201017 (उत्तर प्रदेश) – ई-मेल: raghubir75@gmail.com, मोबाइल- 9818484865

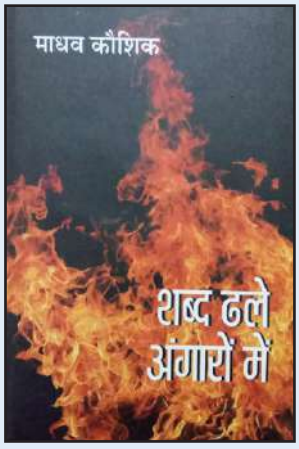

शब्द ढले अंगारो में ग़ज़ल कथन की सुदीर्ध यात्रा

- ज्ञानप्रकाश विवेक

पुस्तक	-	शब्द ढले अंगारो में (ग़ज़ल संग्रह)
ग़ज़लकार	-	माधव कौशिक
प्रकाशक	-	भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीटूशनल एरिया, लोदी रोड नई दिल्ली
मूल्य	-	240/-

माधव कौशिक, ग़ज़ल में समकाल का संज्ञान रचते हैं। विडम्बनाओं की अनदेखी नहीं करते। ग़ज़ल के शेरों को जिरहतलब बनाते हैं। उम्मीद जैसा तत्व, विपरीत अवस्थाओं के, उनकी रचना के मूल में रहता है। महाभारत जैसे महाकाव्य में प्रतिज्ञा है तो रामायण में प्रतीक्षा। महाकाव्यों के ये दोनों तत्व, व्यापक संदर्भो में, प्रत्यक्ष या परोक्ष, उनकी ग़ज़लों में विचार की तरह शामिल होते हैं।

सौलह ग़ज़ल संग्रहो का प्रकाशित होना, हिंदी ग़ज़ल संसार में असाधारण घटना है।' शब्द ढले अंगारो में 'उनकी नयी ग़ज़ल की किताब है। इस लम्बी, सुदीर्ध ग़ज़ल यात्रा के पस:मंजर, माधव कौशिक की निष्ठा, एकाग्रता और ग़ज़ल विधा के प्रति समर्पण भाव है। इस लम्बी ग़ज़ल यात्रा में उन्होंने अपना मुहावरा निर्मित किया है। कुछ जरुरी उपकरण भी उनकी ग़ज़ल चेतना में विद्यमान हुए हैं। उन सब बातों के जरिये माधव कौशिक ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है।

माधव कौशिक अपने नए ग़ज़ल संग्रह तक पहुँचते पहुँचते, ग़ज़ल कथन, शब्द चयन, मिसरों में लय और सम्पूर्ण में तग़ज़्जुल पैदा करने की कला जान गए हैं। माधव कौशिक की एक ख़ूबी यह भी है कि वो अपनी रचनाओं की पाठशाला से स्वयं दीक्षित हुए हैं। उन्होंने ग़ज़ल शैली और लबो-लहजा, अपना बनाया है। उनके शेरों में एक मद्धम-सी आंच महसूस होती है, जैसे जिंदगी अलाव जलाकर बैठी हो।

उनकी ग़ज़ल का एक शेर है -----

बिना चीखे बिना रोये असल हालात रखते हैं
चलो, हम आज खुलकर अपने दिल की बात रखते हैं

तो ये जो इस किताब की ग़ज़ले हैं, वो कवि के 'दिल की बात' भी हैं। शेर उन्होंने दिल से कहे, दिमाग ने उन शेरों में कशमकश और जिरह पैदा की। यथा --

लम्बे क़द के लोगों की भी छोटी-सी परछाई है
इतनी बड़ी बात भी हमको कहाँ समझ में आई है

ऊँचे लोग। परछाई छोटी। यदि यह विडम्बना है तो यह यथार्थ भी है। यथार्थ यह है कि कौम के रहबर अपने भीतर से संक्षिप्त और आत्मकेंद्रित हैं। उस शेर का एक अन्य पाठ भी है जो दृश्य में है वो तो दृश्य है। जो अदृश्य है सच वहाँ भी है।

माधव कौशिक की ग़ज़लें एक ऐसा काव्य रूप बन चुकी हैं, जिसमें सुसंस्कृत और सभ्य विचारों के जरिए प्रश्नवाचक हैं। वो प्रश्न करते हैं और व्याकुल-सी छवि शेरों में जनम लेती है ---

खुदा मुझे तौफ़ीक अता कर सबके मन की पीर लिखूं
मैं अपने हाथो से बहते पानी पर तहरीर लिखूं
लफ़्ज़ों की ताक़त के आगे झुक जाते हैं तूफां भी
मैं नाज़ुक सी क़लमों को भी सुल्तानी शमशीर लिखूं

माधव ने लफ़्ज़ों की ताक़त का एहसास, अपनी ग़ज़लों के ज़रिए कराया है।

जीवन और समाज के गलियारे तथा मन के तलघर में घटनेवाली हर छोटी - बड़ी घटना शेरों के माध्यम से व्यक्त की जा सकती है और माधव ने अपनी नयी ग़ज़ल की किताब में यही प्रयास किया है। उनकी ग़ज़लों में उनका अनुभव ही नहीं, उनका समकाल भी ध्वनित होता है। उन ध्वनियो को उनके शेरों में सुना भी जा सकता है।

माधव ने अपने अनुभवों की पुनर्रचना करते हुए ग़ज़लें लिखी हैं और ग़ज़ल में तासीर पैदा करने का प्रयास किया है।

सदियों से सोये लोगों को दोस्त जगाने निकला हूँ
बहते पानी पर जीवन के नक्श बनाने निकला हूँ
तथा
बेशक रातों का अंधियारा गहरा है
पौ फटने की आस अभी तक बाकी है
तथा
उस दरिया के आगे भी इक दरिया है
कितनी मुश्किल से ये दरिया पार किया था
तथा
मैं किसी मुरदा शहर में आ गया हूँ
कोई आवाज़ दे घर से निकलकर

इन कुछेक शेरों को महसूस करें। इनमें ऐसी रवानी है जैसे शब्दों का दरिया बह रहा हो।

माधव जानते हैं कि दो मिसरों के भीतर जो अनुभूति से लेकर अभिव्यक्ति तक की हलचल है, वही शेर के होने की सुखद घटना है। कोई भी शेर यूँ ही नहीं हो जाता, वो वैचारिक तैयारी के साथ तथा अन्तर्मन की जद्दोजहद के साथ निर्मित होता है। अनुभवों की गहराई और भावना की प्रबलता, शेर को रचनात्मक ऊंचाई प्रदान करते हैं।

पिछले तीन - चार दशकों का समय ऐसा विचित्र और हैरान कर देने वाला कालखण्ड रहा है, जिसमें हर पल दुनिया का मिज़ाज बदलता रहा है। यथार्थ बदला है और जीवन मूल्य भी। एल्विन टॉफ्लर ने अपनी किताब 'फ्यूचर शॉक' में यही तो कहा है कि बदलता हुआ समाज अधिक महत्वकांक्षी, धन लोलुप, अधीर, चौकन्ना, चतुर, चालाक और शाहख़र्च होगा। वाल्टर बेंजामिन ने तो और अधिक पहले अपने लेखों में सचेत किया था कि' सामाजिकता का सारा खेल शापिंग आर्केड में खेला जाएगा '। यानी, मनुष्य की प्रतिष्ठा उसके खरीदार होने में होगी। और नया मनुष्य, उपभोक्ता हो जाने में गर्व अनुभव करेगा।

माधव कौशिक की ग़ज़लें इसी नये मनुष्य के मिज़ाज और आचरण को कारगर ढंग से व्यक्त करती है। कुछ शेर उसी सिलसिले में ---

मैं समझा प्यार करता है वो मुझसे
वो अपने ख़ालीपन को भर रहा था।

फूल कहाँ के कैसी ख़ुश्बू पूरा गुलशन ग़ायब है
ऐसा लगता है जीवन से असली जीवन ग़ायब है

दरवाज़े पर दस्तक देना भूल गए
घरवाले भी मिलना - जुलना भूल गए

इन शेरों में एक व्याकुलता का भाव मौजूद है कि यह नया समाज इतना निस्संग, भावहीन, यांत्रिक और आत्मकेंद्रित क्यों है ?

नया समय एक ऐसा तकनीक आश्रित समय है जिसमें पहचान का संकट है। भय पीछा करता प्रतीत होता है तो संशय मन के भीतर, बेआवाज़ अंधेरे की तरह।

शेर है -----

ज़रा - सी बात की ग़लती बहुत है
सभी को ज़िंदगी छलती बहुत है

यह अधिकता का मारा समाज है, जिसमें हर नागरिक को अधिक चाहिए - सुख सुविधाएँ, खुशियाँ, ऐश्वर्य, धन और स्पेस - सब अधिक। बहुत अधिक। इस आपाधापी और धन के छल को सच समझते समाज पर माधव तीक्ष्ण नज़र रखते हैं। बदलाव की सूरत तलाश करते हैं, लेकिन -

कोशिशें तो हुई बदलने की
सारी बेकार हो गईं लेकिन !

इसी व्यर्थता के बोध से व्याकुल होकर माधव कौशिक कहते हैं --

लाश तो है इसी व्यवस्था की
कोई चादर बदल गया शायद

स्लोगन, इश्तेहार, जुलूस, जलसे, जड़ हो चुके तन्त्र को बदलते नहीं सिर्फ चादर बदलते हैं। हालात वही रहते हैं।

माधव कौशिक की ग़ज़लें, इस जटिल समय का संज्ञान लेती हैं, जिसमें बाज़ार इतना शक्तिशाली है कि हर शय उसके गिर्द घूमती प्रतीत होती है। बिलकुल ऐसे समय में मनुष्यता का क्षरण हुआ है। माधव कौशिक इसी बाज़ार द्वारा निर्मित विज्ञापनी संसार के प्रपंच को तोड़ने का प्रयास करते हैं। इस अनात्म समय में आत्मीयता की खोज किसी दुर्लभ यात्रा की तरह हैं जो उनकी ग़ज़लों मै है। ये शेर ---

किस्मत में लिखी सारी तहरीर बदल देंगे
हम लोग अंधेरों की तकदीर बदल देंगे

हम लोग ! इस पद में जो सामूहिक चेतना की अनुभूति है, वही तो है जो आश्वस्त करती है। ये दो शेर भी इस मफ़हूम को विस्तार देते हुए ----

एहसास को आतिश की भट्टी से गुजारेंगे
लफ्ज़ो को करीने से काग़ज़ पे उतारेंगे

इक कर्ज़ क़लम का भी होता है अदीबों पर
गर मौक़ा मिलेगा तो वो कर्ज़ उतारेंगे

उच्च संस्कारित रचनाकार इसलिए भी एहसास को आतिश से गुज़ार रहा होता है कि उसे अपनी तख़्लीक़ के ज़रिए शब्दों का कर्ज़ उतारना होता है। माधव यही करते हैं।

बाद में जो कुछ भी होगा देख लेंगे हम उसे
आज सच्ची बात महफ़िल में मुझे कहने भी दे

हिन्दी कविता कहानी और उपन्यास यदि समय सापेक्ष विधाएँ हैं तो हिन्दी ग़ज़ल भी समय सापेक्ष सिन्फ़ है। सापेक्षता का यक़ीन माधव कौशिक की ग़ज़लों के अध्ययन से होता है। वो रुमानियत का लेमिनेशन उतारकर, समकाल से टकराते हैं।

ख़ामोश रहूँगा तो जबाँ जलने लगेगी
सच कहते हुए आज भी मन काँप रहा है

ज़िंदगी को ज़िंदगी के कीमती गहने भी दे
प्यार की दहलीज़ पर उम्मीद को रहने भी दे

किसी के पास भी उत्तर नहीं मेरे सवालों का
बताओ क्या करूँ मैं आपकी झूठी मिसालों का

माधव कौशिक की ग़ज़लों में अपने वर्तमान की जुम्बिश है। एक थरथराहट-सी जैसे लम्हें रच रहे हों।

उनकी लम्बी बहर के कुछ शेर जिनमें इसी समकाल से जिरह है। रचनात्मक घनत्व इन शेरों की उपस्थिति को अनिवार्य बनाता है।

शेर हैं -----

हज़ारों सालों की भूख जिस दिन घरों से चलकर सड़क पे आई
गरीब - गुरबों की भीड़ ने तब न तख़्त देखा न ताज देखा

अँधेरी राहों में दीप रखकर सभी को रस्ता दिखानेवाले
ख़ुदा ही जाने कहाँ गए वो कहीं न बन्दानवाज़ देखा

माधव कौशिक कल्पना और यथार्थ के मिलाप से ग़ज़लें लिखते हैं। उनका ग़ज़ल कथन ऐसा होता है जैसे शेरों में वो वंचितों की गाथा प्रस्तुत कर रहे हों। विडम्बनाओं पर प्रहार करना उनकी ग़ज़लों में प्राय: देखने को मिलता है। वो कहते हैं - ' यूँ पीठ पे करता है हर वार करीने से'। इस मिसरे में उस मित्र का आचरण व्यक्त हो रहा है जो करीने से, पीठ पर वार करता है। यह व्यवहार जितना विडम्ब्नापूर्ण है उतना कष्टकारक भी।

जिस तलाश, प्रतीक्षा और उम्मीद जैसे तत्व का ज़िक्र पहले भी किया जा चुका है ये तमाम तत्व उनके शेरों के तलघर में मौजूद रहते हैं। तमाम तरह की यंत्रणा, अकेलापन, असुरक्षा भाव, अभाव और दीनता के बावजूद, उम्मीद किसी बंद किवाड़ को खोलती प्रतीत होती है।

शेर –

बुझते हुए दियों को जलाने की दुआ कर
लफ़्ज़ों को करीने से सजाने की दुआ कर

इस झूठ की दुनिया ने बहुत झूठ लिखा है
हाथों से मेरे सच को लिखाने की दुआ कर

वाचाल और द्रुतगामी समय में जब प्रत्येक मनुष्य तदर्थ जीवन जीने को अभिशप्त होऐसे परिदृश्य में माधव कौशिक की ग़ज़लें, रागात्मक स्वर पैदा करती है और किसी 'हीलिंग टच' का विनम्र प्रयास करती हैं। अपनी वर्तमानता पर जरुरी तबसरा और जीवन मूल्यों की खोज इन ग़ज़लों मै है। दरहक़ीकत, इन ग़ज़लों में मनुष्यता की पक्षधरता है।

✦✦✦

1875 सेक्टर-6, बहादुर गढ़ –124507, हरियाणा, 9813491654, ई-मेल: gyanpvivek@gmail.com

संभव होने की अजस्र धारा

- प्रो. मंजु मुकुल

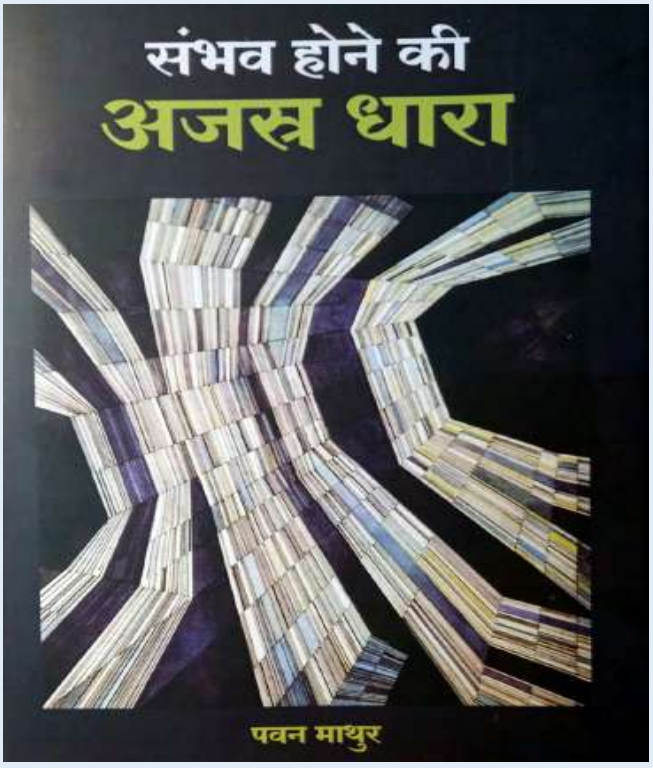

अंतरानुशासनिकता रचनात्मकता की संभावना भी है और ताकत भी। नवाचार, नवीनता और मौलिकता को एक बिंदु पर केंद्रित करने वाली ऊर्जा अंतरानुशासनिकता है। विशेषज्ञता के दौर में किसी विशिष्ट ज्ञानशाखा तक सीमित हो जाने वाली मनःस्थिति के समक्ष अंतरानुशासनिकता की नवीन संभावना निर्मित करती है पुस्तक 'संभव होने की अजस्रधारा'।

पुस्तक की भूमिका में डॉ. गिरधर राठी इसी ओर संकेत करते हैं-

"देश-विदेश के जैविक, भौतिक, गणितीय आदि पचासों ज्ञानानुशासनों में, और तमाम तरह के भारतीय और विदेशी दार्शनिक विवेचनों, उनके विकास क्रमों और इतिहासों और विभिन्न अनुशासनों के साथ उनकी मुठभेड़ आदि को जिस सरलता से वह प्रस्तुत कर देते हैं, उसका 'अवगाहन' आसान नहीं है।"

यह पुस्तक साहित्यिक विमर्श में जिन अंतरानुशासनिक विचार - सूत्रों को बुनने का प्रयास करती है, उनका साहित्यिक जगत् में स्वागत होना चाहिए। साहित्य की सृजनात्मक - ताकत, मानव मस्तिष्क की रचनात्मक क्षमता को अंतरानुशासनिक नज़रिए से विश्लेषित करने का यह प्रयास बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यह पुस्तक अपने-आप में एक विकास - यात्रा की तरह है। विकास-यात्रा मानव की जैविकी से मस्तिष्क की संज्ञानात्मकता तक, मानव मस्तिष्क में जज्ब भाषा की महीन परतों से भाषा-विकार के अनेक रूपों के तर्कसम्मत सूत्रों तक, सामूहिकता की भावना से मानव समाज के विकास तक। पुस्तक विचार के चरणबद्ध तरीके से ही आगे बढ़ती है।

ज्ञान को उसकी संपूर्णता से ही समझा जा सकता है। ज्ञान शाखाओं को विभाजित मनःस्थिति के साथ देखना उन्हें सीमित कर देना है। अंतरानुशासकिता वह ताकत है जो अन्वेषणधर्मी नवीन शोध संभावना को निर्मित करने में सक्षम है। इस तरह विचारों के अंतःसूत्रों को सदियों के अंतराल में खोजना इस पुस्तक की उपलब्धि भी है और ताकत भी।

प्रस्तुत पुस्तक में संकलित तेरह आलेख विचार की एक अजस्र -धारा की तरह हैं। 'भाषा से हम या हम से भाषा का सवाल आगामी आलेखों की पूर्वपीठिका की तरह है। प्रथम आलेख 'भाषा की सबसे कच्ची छाप' में मानव मस्तिष्क के न्यूरल-तंत्र के विकास को सृजनात्मकता की असीम संभावनाओं के बीज की तरह देखा गया है। स्वप्न के जादूई संसार में विद्यमान भावात्मक उद्वेलन के मृत-ठोस बिंब सृजन की वह ज़मीन थे जिस पर भविष्य में सृजनात्मकता की ताकत मानव-विकास की नवीन इबारत लिखने वाली थी।

"भाषा की जैविक परिधि के भीतर नर्व - कोशिकाओं के समूह तंत्र के विकास माध्यम से मानव मस्तिष्क के विकास के उस चरण का विश्लेषण है जब मानव-मस्तिष्क 'वाक्' को नियंत्रित और परिचालित करने में समर्थ होने लगा। 'मिरर न्यूरॉन' की पहचान से लेकर प्रतिबिंबन न्यूरॉनों की प्रचुरता तथा मस्तिष्क की अंतः प्रणालियों के संश्लेष भाषा की ओर बढ़ते मानव के विकास - चरण थे।

मानव-मस्तिष्क में 'भाषा के अपूर्व' की चर्चा बहुत दिलचस्प है जिसे लेखक ने भाषा के जैविक आधार से जोड़ने का प्रयास किया है। बाह्य उद्दीपक और जैव भाषा - तंत्र दोनों भाषा के सहयोगी तत्त्व हैं। इस तथ्य के विश्लेषण के माध्यम से लेखक ने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि भाषा का जैविक आधार ही ज्ञान की सीमा को भी तय करने में भूमिका निभाता है। सूक्ष्म इन्द्रिय बोध का जटिलतम रूप मानव मस्तिष्क है जिसके विभिन्न रंगों का प्रतिफलन साहित्य के विभिन्न रूपों में देखने को मिलता है।

'जैव भाषा का मस्तिष्क में प्रारूप आलेख के केंद्र में 'जैव - भाषा' या भाषा के जैविक रूप की अवधारणा है। यहाँ मानव मस्तिष्क और भाषा से जुड़े कई सवाल मौजूद हैं। मस्तिष्क में भाषा के स्वरूप की गहन पड़ताल के अंतर्गत मस्तिष्क के उन हिस्सों की चर्चा है जो भाषा उपयोग में सहायक होते हैं तथा जिनमें विकार उत्पन्न होने से चिंतन - प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है। 'शब्द - कूट' किस तरह मस्तिष्क के कोशिका - तंत्र का हिस्सा हैं, किस तरह जैविकी आधारित 'सार्वभौम व्याकरण' मानव-जाति के जीव-विज्ञान का हिस्सा और किस तरह मस्तिष्क का ब्रोका - स्थल, व्याकरण का केंद्र हैं, ये सारे सवाल लेखक की इन पंक्तियों में समाहित हैं -

"जैव-भाषा का जटिल रूप हमारे मस्तिष्क में अवस्थित है और हमारे विचार व कल्पनाएँ इसी जैविक - परिधि में उड़ान भरती हैं।"

'भाषा की आंतरिक ईप्सा: काल ध्वंस' आलेख सामूहिकता की भावना से लेकर मानव-समाज की विकास-यात्रा को मानव-क्रिया-रूपों के विकास के समानांतर देखने का प्रयास है। भावावेश से विचार - चिंतन का विकास केवल तर्कशक्ति और वैचारिकता के उदय की ही यात्रा नहीं थी अपितु आदि-समाज-संस्कृति का उत्थान भी था और समूह चैतन्य का गठन भी था। आदि-भाषा के भीतर कल्पनात्मकता आधिकारिता से लेकर अनुपूरक अर्थों के जन्म के सफर को लेखक ने संस्कृति - सापेक्ष 'स्वतः - स्फूर्त - बिंब - दृष्टियों के उत्थान की तरह भी देखा है।

चेतन और अचेतन की पूर्ण एकात्मकता लिए, प्रस्तुत को अप्रस्तुत से विस्थापित करती भाषा, तथ्य और कल्पना के बंधनमुक्त खेल में परिवर्तित होती भाषा धीरे-धीरे 'असहमति की भाषा' के रूप में परिवर्तित होती गई। असहमति के बीज से कल्पना का सम्मिश्रण विचार - श्रृंखलाओं के नए द्वार खोलता है।

पूर्व - तार्किकता से अनुमान का संबंध किस तरह मिथक से कथात्मकता और कथात्मकता से लोक-परंपरा का निर्माण करता है। प्रस्तुत पुस्तक में अनेक चिंतकों और विचारकों के माध्यम से लेखक ने इस तथ्य का बहुत दिलचस्प विश्लेषण किया है। 'भाषा की आंतरिक ईप्सा : काल ध्वंस के अंतर्गत मानव विकास के अंतर्गत मानव-मस्तिष्क से जुड़ते नवीन भाषिक प्रयोगों और आयामों को देखा गया है। भाषा के माध्यम से मिथकीय-सत्य का निर्माण और मिथकीय भाषा में स्वप्न, बिंब और फंतासी का जन्म यहाँ इतिहास नृतत्वविज्ञान और दर्शन के विविध आयामों से गुजरता हुआ दिखाई देता है।

भारतीय भाषा — चिंतन की विचार - श्रृंखला का बहुत विस्तृत विश्लेषण किया गया हैं जिसमें विचार और बोध के स्वायत्त एकांक के रूप में शब्द के विकास के साथ भाषा और व्याकरण को लेकर यास्क, पाणिनी, पतंजलि, भर्तृहरि जैसे महत्त्वपूर्ण भारतीय भाषा-चिंतकों के विचारों को प्रस्तुत किया है। इस परंपरागत अवरोध को लेखक ने जिस तरह प्रस्तुत किया है वह ध्यान देने योग्य है -

"ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी से लेकर ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी तक संस्कृत ने प्रत्ययों, विचार-सरणियों, विधियों, परिभाषाओं तथा शब्दावली का प्रचुर भंडार एकत्रित कर लिया था। हज़ारों वर्षों से जो शतरंत की बाजी लगी हुई थी जिसके तंत्र के आंतरिक नियमों पर महारत हासिल कर हर बाज़ी एक नई उड़ान भर रही थी, उस बिछी हुई बिसात समय-समाज उठ गया और धीरे-धीरे उससे मुँह मोड़ लिया।" (पृष्ठ-64)

भारतीय ज्ञान परंपरा में यह विराम पुस्तक में चिंतन और जिज्ञासा का विषय बनता है। जिसके प्रति पाठक को सजग करने में लेखक की सफलता साफ़-साफ़ दिखती है। यहाँ 'समय समाज' की अवधारणा एक विशाल पूर्वपीठिका निर्मित करती है।

भाषा और कल्पना का तारतम्य भाषा में अर्जित स्मृतियों के आधार पर 'समय - समाज' के मानस में शताब्दियों तक प्रवाहमान रहता है। 'समय-समाज' का नए सिरे से भाषा के किसी अन्य रूप की ओर मुड़ जाना विचार - श्रृंखला के व्यवधान की स्थिति निर्मित कर देता है। इसके लिए लेखक ने प्राक् - भाषाओं के उत्खनन को आवश्यक माना है। 'प्राक् भाषा' में निर्मित 'सार्वजनीन सत्यों' का संरक्षण 'मिथक गाथाओं' से परे 'यथार्थ बद्ध प्रत्ययों में अस्मिता की तलाश की तरह है। भारतीय विज्ञान परंपरा और इतिहास को 'प्राक् - भाषाओं' में गुँथे इन्हीं यथार्थ-बद्ध प्रत्ययों में खोजा जा सकता है।

भाषा की नई तार्किक पद्धतियों से प्रभावित 'चिह्नों की भाषा के प्रारूप विश्लेषण में 'संस्कृति निरपेक्ष सत्य' और 'सार्वजनीन सत्य' का अन्वेषण बहुत प्रभावशाली प्रस्तावना है। दर्शन और विज्ञान, दो विशिष्ट ज्ञानशाखाओं के निर्माण में भाषायी विकास का प्रतिबिम्बन खोजना एक ओर गणित और ज्यामिति की भारतीय परंपरा में 'शाब्दिक सूत्रों के माध्यम से 'चिह्नों की भाषा के निर्माण की प्रक्रिया का विस्तार है तो दूसरी ओर पिंगल का बाइनरी अलजबरा, आर्य भट्ट की पृथ्वी की परिक्रमा का गठन, वराहमिहिर का क्रमचय व समुच्चय, ब्रह्मगुप्त के शून्य और अनंत के समीकरण, भास्कराचार्य का अवकल गणित आदि अनेक सूत्रों का उद्घाटन केवल परंपरा को याद करने के लिए ही नहीं किया गया है अपितु 'भाषा में अर्जित स्मृति के अर्जन की भी बात है।

भाषा की संरचना स्वयं अभिव्यक्ति-स्वरूप को गढ़ती है। भाषा के भीतर ही विचार के स्वरूप का गठन होता है। भाव और विचार से आगे बढ़कर वह मनःस्थिति, वह अनुभव अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसे रचनाकार साहित्य में निर्मित करता है और जो पाठक के भीतर एक विचार - सूत्र निर्मित कर पाती है। रचनात्मकता एक मनःस्थिति है जिसके अनेक आयाम लेखन की रचनाधर्मिता को प्रभावित करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य की सृजनात्मक ताकत, मानव मस्तिष्क की रचनात्मक क्षमता को अंतरानुशासनिक तरीके से विश्लेषित करने का किया गया प्रयास सराहनीय है।

"भाषा के संबंध में कुछ भी सोचना अथवा लिखना, पहले अपने अवचेतन को टटोलने जैसा है' लेखक का यह मत पुस्तक में निहित 'साहित्यिक - पाठ' के - सवाल के प्रति लेखक की विशिष्ट सोच की ओर भी संकेत करता है। विमर्श के स्तर पर 'साहित्यिक - पाठ की विशिष्टता का सवाल, अपने- ने-आप में एक दिलचस्प सवाल है। इस सवाल ने आधुनिक आलोचना को बहुत गहरे प्रभावित किया।

'संभव होने की अजस्र धारा : काव्य भाषा' के अंतर्गत लेखक ने भाषा की संरचनात्मकता के अंतर्गत भाषा - संकेतों का मूल्यांकन 'साहित्यिक - पाठ' के संदर्भ में किया है। जहाँ से 'साहित्यिक पाठ' की विशेषता जन्म लेती है। साहित्य की अनेकार्थता जहाँ 'अर्थ के खुलेपन' का मैदान है तो दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक वैचारिकता 'अर्थ के घेरेबंदी की बाड़ाबंदी' को निर्मित करती है। लेखक इस तर्क को स्थापित करने में सफल रहे हैं कि 'अर्थ के संभव होने की अजस्र धारा काव्य भाषा ही है। साथ ही साथ अर्थोत्पत्ति की जड़ें पाठ के साथ-साथ बाह्य नियमकों में भी मौजूद होती हैं।

'नई कविता की काव्य-भाषा' की निर्मिति में संज्ञा, सांकेतिकता और बहुल ध्वन्यात्मकता की भागीदारी के माध्यम से गतिशील संकेतों और अर्थ-व्यापार को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। यहाँ 'रचनाकार की निजता' और 'शब्द संस्कार के सवाल को भी लेखक ने विश्लेषण का विषय बनाया है। कवि शमशेर के काव्य-मन को भी लेखक ने 'ना बाग हाथ में है' के माध्यम से 'उद्दीपन ... यथार्थ की गड्ड-मड्ड भाषा' में टटोलने की कोशिश की है। कविता में संदर्भों के स्थान पर संवेदन के पद चिह्न' ही शमशेर के काव्य-भाषा को गढ़ते हैं। इसी तरह मुक्तिबोध की कविता के तीसरे क्षण को लेखक ने 'ज्ञान विस्तार की नई खिड़की के खुलने की तरह प्रस्तुत किया है।

भविष्यजीवी कवि के रूप में पिता श्री गिरिजाकुमार माथुर की काव्ययात्रा के समय के अस्त्र बनने वाले भविष्यगामी शब्दों पर विचार करना लेखक की एक बड़ी उपलब्धि है। अज्ञेय की रचनाधर्मिता और काव्य - यात्रा में भाषा के 'तत्सम्' से 'तद्भव' की ओर बढ़ने को ही लेखक ने संकेतित नहीं किया अपितु 'एक कारुणिक 'मैं' दर्पयुक्त 'मैं' की ओर तथा 'जीवन कुछ है' को छोड़कर 'मैं हूँ' के बोध के ओर बढ़ लिए' को भी 'किस की बाट, भरोसा किनका' आलेख में रेखांकित किया गया

कुल मिलाकर यह पुस्तक 'संभव होने की अजस्र धारा अपने पाठक को चिंतन की एक ऐसी यात्रा के लिए खुला आमंत्रण देती है, जिसके अनेक आयाम होंगे। इतिहास और दर्शन को नापते हुए सर्जनात्मकता की निर्मिति में भाषा का सवाल भी है तो भाषा के 'अवचेतन' के सृजन की प्रक्रिया की पड़ताल भी है। यह पुस्तक पाठक के नज़रिए से लगातार एकाग्रता की मांग करती है। ध्यान जैसे ही भंग हुआ, विचार - सूत्र उलझ जाते हैं और चिंतन की यात्रा भटक जाती है।

यह पुस्तक पाठक को यह अवसर प्रदान करती है कि वह लेखक के कई वर्षों की शोध - यात्रा को कुछ अध्ययन - बैठकों में तय कर पाए। यह पुस्तक, पाठक से विशेष मानसिक तैयारी की भी उम्मीद करती है क्योंकि फिर विचारों का ऐसा घुमाव है कि पाठक उसमें उलझ सकता है।

विरासत में मिली कविता और साहित्य की संवेदना को रसायन शास्त्र के प्रोफ़ेसर पवन कुमार ने शोध के धरातल पर बहुआयामी बना दिया है। पुस्तक की भूमिका में डॉ. गिरधर राठी ने ठीक ही लिखा है "साहित्य - कला का, कवि और कथाकार का सहभाव - स्वभाव विज्ञानों की रोशनी में और भी आत्मीय हो उठा है। " इस अंतरानुशासनिक दृष्टिकोण का साहित्यिक - अकादमिक जगत् में स्वागत है।

✦✦✦

हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली- 7 मो. 9971230599, ई-मेल - kamblemanju@gmail.com

प्रो. मंगला रानी की अमूल्य कृति: "अक्षर मोती का नज़राना''

- डॉ. अर्चना त्रिपाठी

आलोचना या कि समीक्षा के इसी सिद्धांत के आलोक में विचार करती हुई 'अक्षर मोती का नज़राना' की कवयित्री के व्यक्तित्व पर दृष्टि निक्षेप करती हूँ। विद्यार्थियों में अतिशय लोकप्रिय यह प्रोफेसर एक समृद्ध सांस्कृतिक पीढ़ी तैयार करने को कृतसंकल्पित है। इस पुस्तक के अंत में कुछ पन्नों में आबद्ध एक कवि-परिचयात्मक पृष्ठ भी है जिन्हें पढ़ते हुए इनके व्यक्तित्व से इनकी रचनाओं का मिलान कठिन नहीं रह जाता है। मंगला जी ने साहित्य-समीक्षा के सिद्धांत और समीक्षकों के जीवन-मूल्य पर विशद् कार्य किया है और पटना विश्वविद्यालय से डीलिट् की उपाधि पायी है। तभी तो इनकी हर रचना अपने संदेशों में अमूल्य है, शैली में सबसे विलग और प्रभावात्मकता में चिर स्थायी प्रभाव छोड़ने वाली। महादेवी कहती हैं " दुःख सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है...।"

प्रो. मंगला रानी जी की नवीनतम काव्य-कृति 'अक्षर मोती का नज़राना ' चिंतन की अतल गहराइयों से फूटा जीवन का मर्म संगीत है। किसी कृति को आद्यंत पढ़कर, समझ कर, उसके दर्शन का आलोड़न कर आलोचना करना आसान कार्य तो नहीं! किंतु कभी कभी कृतियाँ स्वयं पास बुलाती हैं, अपने भावों का साक्षात्कार कराती हैं, अनुभूतियों की रसदशा में भावक को पहुँचा कर विभोर कर देती हैं....।

"आओ साथी गीत रचें हम, राग विहाग बिखरने दें ,
स्वर्ण चिरैया के पंखों पर, नव नव किरण मचलने दें..
पुरवैया में ज्ञान रश्मि की, कोमल हवा फिसलने दें,
फिर फिर वंदन मातृभूमि की, अमृतधारा झरने दें..।" (1)

जीवन के सारे रंग समेटती काव्य-पुस्तक 'अक्षर मोती का नज़राना' विचार- गांभीर्य एवं संवेदनशील अभिव्यक्ति से समृद्ध तो है ही, काव्यशास्त्रीय कसौटी पर भी मूल्यवान है। भावपक्ष में रमा हुआ कवि-हृदय जब आँसुओं में गुनगुनाता है तब कुछ ऐसे शब्द झरते हैं..

"दुर्निवार पीड़ाओं का छूट जाना, नाताओं का टूट जाना है..
विलग होना व्यवहारों से, विचारों का संन्यस्त होना है..
लक्ष्य से मोहभंग हार नहीं, प्राप्ति से असंग होना है..
संवेदनाओं की शून्यता शव होना नहीं, शिव होना है ।।"(2)

प्रो. मंगला रानी की दार्शनिकता बड़ी स्वाभाविकता से समक्ष आती है, ये दार्शनिक भाव उन्हें छायावाद एवं रहस्यवादी कवियों की प्रथम पंक्ति में स्थापित करने को पर्याप्त हैं -

"झिलमिल सी रौशनी में, अंगार थे लिपटते ..
रौशन दिशा दिशा थी, था प्रज्ज्वलन का मौसम ..
कुछ जुगनुओं ने बुन ली थी, मखमली सी चादर ..
थे हंस फड़फड़ाते, कुछ मत्स कुलबुलाते ..
सागर की धार में थीं, नौकाएँ सरसराती ..
मृगकुल की चौकड़ी थी, फूलों भरे थे रस्ते ..।।"(3)

कलापक्ष पर विचार करें तो क्या छंद,क्या प्रवाह, क्या अलंकारों के साज संभार ! चकित करने वाली कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं..

"धड़कनों की पंक्तियों में, पंक्तियों की उक्तियों में..
हर दिशा में हैं तुम्हारे शब्द, तुम सब सूक्तियों में..
नोंक पर जब उतर पड़ते, हस्त कंपित जरा बहके..
लिख सकूँ जो नाम देखो, फिसल पड़े निरुक्तियों में..।।" (4)

प्रो. मंगला रानी की रचनाओं में एक तरलता भी है, संगीत की लहरियों सी कुछ रचनाएँ अतिशय रूमानी और तलस्पर्शी हैं....ऐसा लगता है जैसे कलम छंदों पर नाच रही है..

" प्राणों की ताल-तलैया में, इक डोंगी डोला करती है..
उस डोंगी में जो बैठी है, चंदन सी महका करती है..
उस चंदन में जो आब घुली, वह लाल गुलाबों जैसी है..
वह लाल गुलाब परी जैसी, पंखों पर नाचा करती है..।।" (5)

कलरव करते से गीत मधुर, जब छा जाते हैं होठों पर..
दर्द हृदय के,पीड़ा मन की, हर लेते हैं ज्यों क्षण भर..
टेढे तारों सी लय लुक छिप, तैरा करती है टिमटिम कर..
मृदुभाव संभाले थोड़ा हिल, कंपित होते हैं मुदित अधर..॥" (6)

'अक्षर' यानी जिसका क्षरण असंभव है, 'मोती' जिसकी चमक विलुप्त नहीं होती .. ऐसे अमर्त्य भाव लिये इस कृति की जिस किसी रचना पर ठहरूँ, दर्शन की एक अलग ही दिशा घेर लेती है। हम जानते हैं कि कविताएँ निष्प्रयोजन कभी नहीं होतीं, उनके अंदर होते हैं कवि के सूक्ष्म चिंतन, गहरी मनोदशा और अभिव्यक्ति की तीक्ष्ण आग्नेय शक्ति। काव्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजन पर विशद चर्चाएँ मिलती हैं। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में निर्दिष्ट किया है कि -

"धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश काव्य के प्रयोजन हैं -

" धर्म्य यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ " (7) नाट्यशास्त्र

आ. मम्मट ने भी काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए कहा है -

" काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिवृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥" (8) काव्यप्रकाश

सच है कि जहाँ तक सूर्य की किरण नहीं पहुँच सकती, वहाँ तक कवि की संवेदनाएँ पहुँचती हैं, उन सूक्ष्म मानसिक तरंगों का वास्तविकता के मूर्त रूपों से समंजन कराती हैं और काव्य-कलश छलक उठता है। प्रो. मंगला रानी की रचनाएँ सदा ही सकारात्मक विचारों के साथ जीवन-सत्य उद्घाटित करती हैं, घने अंधकार में भी एक दीपक प्रज्ज्वलित करती हैं..

"नये आदर्शों के सृजन में विनाश होंगे,
नये मूल्यों के स्थापन में विस्थापन होंगे..
मृत्यु के लास में सर्वांग थिरक जाने दो,
विस्थापन के संत्रास में नवजीवन झलक जाने दो ..॥"(9)

सहज ही कविवर पंत याद आ जाते हैं, जब वो नवपत्रों के स्वागत में जर्जर पत्रों के झर जाने की कामना करते हैं-

" द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!
हे स्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क-शीर्ण!
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीत-राग, जड़, पुराचीन!!"(10)

"अक्षर मोती का नज़राना" काव्य-कृति पढ़कर कवयित्री के गहन अध्ययन और चिंतन का पता तो चलता ही है, साथ ही उनकी जाग्रत लेखनी से उनके सामाजिक सरोकार, लोक-मंगल की कामना, जीवन के आदर्श मूल्य स्थापित करने की अदम्य चाहत भी प्रतिक्षण स्पष्ट होती चलती है। महीयसी महादेवी के दुःखवाद का गहरा प्रभाव प्रो.मंगला रानी की रचनाओं पर अनजाने ही आ गया प्रतीत होता है। जीवन के हास, रुदन, दैनंदिन संघर्ष के कठोर अनुभवों से चेतन प्राणी अलग कैसे रह सकता है ! कवयित्री की रचनाएँ ऐसे छू लेने वाले प्रसंगों से तो भरी हैं ही , किंतु सबके भीतर पीड़ा की एक गहरी टीस हृदय को झकझोरती भी चलती है..

"देह नहीं है पास किंतु, आँसू में बहते रहते हो..
हे रुदन कहाँ से उठते हो, पानी में कैसे ढलते हो..
पीड़ा के अस्फुट बोलों में, कैसे शब्दित हो जाते हो..
आकुल अंतर्मन के कंपित तुम दीप, प्रज्ज्वलित रहते हो..॥"(11)

कविता सदा ही प्रासंगिक होती है । प्रो.मंगला रानी जी की हर रचना से हर पाठक जुड़ जायेगा, चाहे वह किसी भी वर्ग, समाज या धर्म से आता हो, स्त्री हो,पुरुष हो या किसी भी वय का हो। विद्यार्थियों से संबोधित उनके शब्द सदा ही प्रेरणादायी एवं उर्जस्वित करने वाले हैं-

"चढ़ते जाओ बढ़ते जाओ, गिरो संभल पग धरते जाओ..
ठौर ठौर कुछ पल ठिठको, हर दिशा नयी तुम गढ़ते जाओ.."(12)

'प्रेम' शाश्वत सत्य है, मंगला जी अछूती कैसे रह सकती हैं..

"मेरी माँ को छूकर जो हवा बही थी..
उस हवा से प्यार करती हूँ,
धरती को अंबर को, सागर नर नागर को,
प्यार करती हूँ...॥"(13)

ध्यान देने वाली बात यह है कि तथाकथित वादों , विमर्शों, आंदोलनों, घेरों से मुक्त मंगला जी की भावनाएँ इन आंदोलनों के केंद्र में जो चिंतन और पीड़ा है, उससे प्रगाढ़ रूप में जुड़ी हैं चाहे वह स्त्री विमर्श हो, दलित विमर्श अथवा पर्यावरण विमर्श। स्त्रियों के प्रतिक्रियात्मक स्वरों से अलग उनके स्त्री विषयक भाव इन शब्दों में देखे जा सकते हैं -

''ब्रह्म तत्व से परिपूरित, हर दैव गुणों की स्वामिनी ..
वास करें माँ सरस्वती, लक्ष्मी पार्वती सुशोभिनी ..
सृष्टि समन्वित प्रकृति वह, है स्वर्ग धरा संचारिणी ..
शक्ति रूपेण बुद्धि रूपेण, मातृ रूप अभिमानिनी .. ॥ "(14)

'अक्षर मोती का नज़राना' की कवयित्री भाषा प्रयोग में अति विशिष्ट है । स्वच्छ जल की अजस्र धारा समान जब इनकी लेखनी चलती है, अमलतास के फूलों जैसे शुभ्र तत्सम मिश्रित जाग्रत शब्द झरने लगते हैं । पाठक विमुग्ध रह जाते हैं, कहीं कोई क्लिष्टता नहीं .. पारंपरिक परिवेश वाली सांस्कृतिक भाषा में रची घुली कविताएँ हृदय पर गहरी छाप छोड़ती हैं ।

वही रचनाकार जब कभी कभी मगन होकर लोकभाषा के शब्द पिरोती हैं , माटी की कच्ची-सोंधी गंध पन्नों पर पसर जाती है -

"बदरवा ढनकते, बिजुरिया चनकते,
पवनवाँ सहकते, मंदिरवा बोलावे..
हिरदा झमकावे, दुनिया हरषावे,
बाबा ओ अम्मा के बतिया सुनावे ..॥" (15)

भाषा एवं राष्ट्र-प्रेम से परिपूरित कवि हृदय कभी कभी बड़ी स्पष्टता से अपनी भावनाएँ व्यक्त करता है -

"सहज हास सी स्वर्ण धरा,
जयी वीर पुत्रों की उर्वर जयंतिका
चिर स्वतंत्र, चिर मुक्ता, चिर अन्वेषा,
सर्व मंगला, प्राण सुरभि संचरिता..
जय स्वतंत्रते, सर्वव्यापिनी, वंदन भारत माता..।।" (16)

अपनी आलोचना-कृति 'साहित्यालोचन: सिद्धांत और अध्ययन' के पृष्ठ 154 में डॉ. सीताराम दीन जी लिखते हैं - "साहित्य के अंतर्गत जो उत्तम विचार किंवा भाव या कलात्मक सौष्ठव हैं उन्हें सामाजिकों के समक्ष प्रस्तुत करना एवं जो अन्य प्रकार के गुण-दोष हैं उनका निर्देश करना आलोचना का उद्देश्य है। न केवल रचना का बल्कि रचयिता का भी व्यक्तित्व निरूपण आलोचना का उद्देश्य है।" (17)

आलोचना या कि समीक्षा के इसी सिद्धांत के आलोक में विचार करती हुई 'अक्षर मोती का नज़राना' की कवयित्री के व्यक्तित्व पर दृष्टि निक्षेप करती हूँ। विद्यार्थियों में अतिशय लोकप्रिय यह प्रोफेसर एक समृद्ध सांस्कृतिक पीढ़ी तैयार करने को कृतसंकल्पित है। इस पुस्तक के अंत में कुछ पन्नों में आबद्ध एक कवि-परिचयात्मक पृष्ठ भी है जिन्हें पढ़ते हुए इनके व्यक्तित्व से इनकी रचनाओं का मिलान कठिन नहीं रह जाता है। मंगला जी ने साहित्य-समीक्षा के सिद्धांत और समीक्षकों के जीवन-मूल्य पर विशद् कार्य किया है और पटना विश्वविद्यालय से डीलिट् की उपाधि पायी है। तभी तो इनकी हर रचना अपने संदेशों में अमूल्य है, शैली में सबसे विलग और प्रभावात्मकता में चिर स्थायी प्रभाव छोड़ने वाली। महादेवी कहती हैं " दुःख सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है ...।" समीक्ष्य-पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर मंगला जी के शब्दों में कुछ ऐसी ही पीड़ा के भाव टंकित हैं -

"झरती हुई धुँधलाती आँखों और काँपती उंगलियों की कथा सरीखी ये रचनाएँ मेरी पूजा के वे अश्रुफूल हैं,जो सृष्टि को पीड़ाओं से मुक्त कर आनंद से आप्लावित करेगा।''

पुस्तक समीक्षा के क्रम में अधिकार पूर्वक कुछ कहने का आधार शुक्ल जी की समीक्षा संबंधी यह दृष्टिकोण रखती हूँ _ "संवेदना या रसानुभूति के आधार पर स्थिर होने वाली काव्य- समीक्षा के लिये दो शर्तें अनिवार्य हैं - एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो, किसी मतवाद का आग्रह न हो।" (आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन: नंददुलारे वाजपेयी, हिंदी आलोचना के आधारस्तंभ), पृष्ठ - 67(18)

पुस्तक की समीक्षा में गुणों के साथ दोष भी देखना समीक्षक का नैतिक दायित्व है। 'अक्षर मोती का नज़राना' के संदर्भ में दोषों पर विचार करें तो प्रकाशन संबंधी कुछ प्रश्न उठाये जा सकते हैं। कविता के प्रकाशन में फाँट कुछ बड़े रखे जाते तो पढ़ने की सुविधा के साथ आकर्षण भी बढ़ जाता. . सौंदर्यबोध की दृष्टि से भी यह आवश्यक था। कवर की बात करें तो कविताओं की श्रेष्ठता और परिष्कृत वातावरण के समक्ष कवर फीका है, हालाँकि शीर्षक को अर्थ देता सा है। इसे थोड़ी और चमक एवं कलात्मकता के साथ प्रस्तुत करना चाहिये था।

कवयित्री पर जो दूसरा दोष मढ़ा जा सकता है, वो है उनकी अतिशय भावुकता। कुछ कविताएँ उनके जीवन की उन पीड़ाओं तक पहुँचाती हैं, जहाँ कवि माता-पिता को आकुलता से पुकारता है, जार जार रोता है, एक शिशु की तरह उनके सान्निध्य को तरसता है। कुछ अति व्यावहारिक एवं भौतिक सोच वाले ही इन भावनाओं पर उंगली उठा सकते हैं, हम तो कवयित्री की संवेदनशील स्वच्छ हृदय की मौलिक पहचान ही रेखांकित करेंगे। व्यष्टि से समष्टि की ओर ले जाने वाली पीड़ा ही तो सहित भाव में साहित्य है ! उदाहरण द्रष्टव्य है -

"सीने में चीखें घुटी रहीं, हर श्वाँस विवश कुछ लिखे कहीं ..
जो हृदय फाड़ कर रो सकती, तो फट जाता आकाश यहीं ..
.....
जो गीत कभी मैं गा न सकी, वह राग फिसल कर झरता है..
तब सुन्न गली के कोने पर, वह कौन इशारे करता है . . ।।"(19)

अंततः यही कहना चाहूँगी कि आज के समय जब लिखने वालों की बाढ़ आ गयी है, पढ़ने वालों को चेतन होना होगा। मूल्यवान सामग्रियों को रेखांकित करना होगा और हमारे अमूल्य मौलिक साहित्य को प्रकाश में लाकर देश और दुनिया के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन करना होगा।

संदर्भ

1. समीक्ष्य कृति (अक्षर मोती का नज़राना)- पृष्ठ -6
2. वही, पृष्ठ -8
3. वही, पृष्ठ - 47
4. वही, पष्ठ - 5
5. वही, पृष्ठ - 99
6. वही, पृष्ठ - 104
7. आ.भरत मुनि - नाट्यशास्त्र
8. मम्मटाचार्य - काव्यप्रकाश
9. समीक्ष्य कृति (अक्षर मोती का नज़राना) पृष्ठ- 26
10. सुमित्रा नंदन पंत, युगांत (परिवर्तन)
11. समीक्ष्य कृति (अक्षर मोती का नज़राना) पृष्ठ- 11
12. वही, पृष्ठ - 9
13. वही, पृष्ठ - 14
14. वही, पृष्ठ - 7
15. वही, पृष्ठ - 92
16. वही, पृष्ठ - 1
17. डॉ. सीताराम दीन, साहित्यालोचन: सिद्धांत और अध्ययन- पृष्ठ- 154
18. आ. नंददुलारे वाजपेयी-आ. शुक्ल का काव्यालोचन- पृष्ठ- 67 (हिंदी आलोचना के आधारस्तंभ पुस्तक से)
19. समीक्ष्य कृति (अक्षर मोती का नज़राना) पृष्ठ- 11

✦✦✦

अतिथि प्राध्यापिका, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय,पटना बिहार, मो - 7033643268

बड़ी छोटी मछली

- डा. शशि गोयल

अब मछलियाँ बगुले के झांसे में नहीं आने वाली थीं। वह उसकी जात पहचान गई थीं। 'हूँ! खड़ा है आंख बंद किये एक टांग पर। खड़ा रह बच्चू तू क्या, समझता है कि हम झांसे में आ जायेंगे।' मछलियाँ हंसती व भगत बन बगुले के आस पास भी नहीं फटकती थीं। एक आंख से देखतीं और डुबकी लगा कर दूर ही दूर किलोल करती रहतीं और जैसे ही उसकी टांग हिलती अथाह जल राशि में गायब हो जातीं। बगुले परेशान हो गये। वे छिप कर भी बैठे , पत्थर की ओट में बैठे पर मछली मछली खबर पहुंच जाती और उस के आस पास भी मछलियाँ नहीं फटकती थीं। परेशान बगुलों ने रूप बदले। नये रूप बनाये अंत में तेजी से झपट्टा मार कर मछलियों को पकड़ने लगे। पहले तो भूख लगने पर ही मछलियों के लिये घात लगाते थे परंतु जब उन्हें मछलियाँ मिलना मुश्किल हो गया तो मौका पाते ही पकड़ लेते और पहाड़ी पर सूखने रख देते जिससे जब जरूरत हो खा सकें क्यों कि आगे मिली न मिली। यह देख मछलियाँ परेशान हो गई सांस लेने तो ऊपर आना ही पड़ता था। कभी कभी बेध्यानी में कोई बगुले के आस पास ऊपर आती वह झपट लेते।

मछली मछली आपस में सलाह करने लगी कि क्या किया जाय? अंत में तय पाया गया कि एक मछलियों की आम सभा बुलाई जाय। बड़ी बड़ी मछलियों को मुखिया बनाया क्योंकि वे सशक्त थी। तालियों की गड़गड़ाहट के बीच में बड़ी मछलियों ने अपनी पूंछ और फन हिलाकर अभिवादन स्वीकार किया और उनकी समस्या सुनी।

मछलियों की सुरक्षा के कदम उठाये जाने चाहिये। इस प्रकार तो मछली की जाति का नामोनिशान मिट जायेगा। जल प्रदूषण, मनुष्य घात आदि खतरे तो वैसे ही सर पर घूमते रहते हैं, बगुले और परेशान कर रहे हैं, इनसे निजात पाना आवश्यक है। नारे लगाये गये मछली आस्तित्व अमर रहे। मछलियों को जीने का हक मिले। मछली जात जिंदाबाद। बगुले हाय हाय!

बगुलों से प्रार्थना की अन्य छोटे कीड़ों को खाकर काम चलाए।

उन्होंने बड़े बड़े वैनर बनाये और जलूस निकाला।

बगुले हमारी सहायता करे

हमारा भक्षण करना बंद करे आदि आदि।

बड़ी मछलियों ने प्रस्ताव रखा कि केकड़ों ने बगुले से बदला लिया था उनसे सहायता मांगी जाये तो मछलियाँ सहमत हो गई। एक मत से सबने हामी भरी ओर केंकड़ों के अध्यक्ष के पास जाकर सहायता मांगी। जब बगुलों को ज्ञात हुआ कि केंकड़े मछलियों के साथ आ रहे हैं तो वे सहम गये। उन्होंने बड़ी मछलियों को वार्ता के लिये बुलाया।

बगुले बोले,' मछलियाँ हमारा भोजन है हम उनके बिना जीवित नहीं रह सकते हमारा पेट भरा रहेगा फिर कोई परेशानी नहीं है।'

'इस समस्या का हल तो निकालना ही चाहिये नहीं तो हम सब ये तलाब छोड़ कर गहरे तलाब में चले जायेंगे और अन्य जीवों से मदद लेकर तुम लोगों के आस्तित्व को खतरे में डाल देंगे। 'मछलियों ने कहा बगुले खिलखिला कर हंस पड़े, 'नादान न बनो, तुम बड़ी मछलियाँ ही जब छोटी मछलियाँ निगल लेती हो तो हमारे उन्हें खा लेने में क्या हर्ज है। तुम लोग निरोध घूमो तुम्हें कुछ नहीं होगा पर छोटी मछलियाँ तो कीड़े मकोड़े हैं उनकी पैदाइश भी तो खूब है। हमारी खुराक तो वे ही हैं तुम्हें क्या ? हमें उन्हें खाने दो तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे तुम खूब आराम से घूम सकोगी।'

अभिवादन के साथ वार्ता समाप्त हुई। छोटी, मछलियाँ बदस्तूर बगुलों के पेट में जाती रहीं। जब भी कोई छोटी मछली सिर उठाने की कोशिश करती, उन्हें डलिया में भर बगुलों के खेमें में डाली के रूप में पहुंचा दिया जाता।

✦✦✦

सप्तऋषि अपार्टमेंट, जी -9 ब्लॉक -3 सैक्टर 16 बी आवास विकास योजना, सिकन्दरा आगरा 282010
मो॰ 9319943446 ई-मेल: ssaigoyal3@gmail.com

माधव कौशिक की गजलें

1

लम्बे कद के लोगों की भी छोटी सी परछाई है
इतनी बड़ी बात भी हम को कहाँ समझ में आई है

क्या जाने अब कहां किस खाई में उतरेगा
कुछ अंधे लोगों के हाथों हम सबकी अगुवाई है

ये कैसा इन्साफ किया है मेरे मुन्सिफ मुझे बता
सच कहने वाली पीढ़ी भी क्यों दोषी ठहराई है

बन्द घरों के दर पर जाकर अलख जगाने वालों ने
शाहों के आगे भी अपनी झोली कब फैलाई है

उबड़-खाबड़ राहों में तो कुछ भी हमको नहीं हुआ
समतल खाली मैदानों में हमने ठोकर खाई है।

2

सच निकले ना डर अपना
पांव संभल कर धर अपना

कटता है तो कट जाये
झुके कभी ना सर अपना

मुस्तैदी से जीना सीख
रहजन है रहबर अपना

शीश महल भी कहता है
फेंक जरा पत्थर अपना

सारे ऊंचा सुनते हैं
दर्द बता खुलकर अपना

हमदर्दी की फसल उगा
खेत नहीं बंजर अपना

कोशिश करते तो शायद
बच सकता था घर अपना

अब किससे उम्मीद करें
जब चुप है शायर अपना।

3

बिना चीखे, बिना रोये असल हालात रखते हैं
चलो हम आज खुल कर अपने दिल की बात रखते हैं

हमारे सामने से हार के मंजर हटा लेना
हम अपने पास केवल जीत की सौगात रखते हैं

तुम्हारे पास सिक्कों के सिवा कुछ भी नहीं होता
हम अपनी जेब में गुजरे हुये लम्हात रखते हैं

हमारा खून लावे की तरह खुद ही उबलता है
मगर कुछ लोग काबू में सभी जज्बात रखते है

उजाला किस तरह डरता है मौसम के अंधेरे में
सुबह के सामने ठिठकी हुए एक रात रखते हैं

बहुत दिन से हँसी का एक झौंका भी नहीं गुजरा
उन्हीं खामोश होठों पर नये नगमात रखते है।

4

आने वाले कल को बेहतर लिक्खेगा
सच्चाई तो केवल शायर लिक्खेगा

बहुत ध्यान से पढ़ना उसके मिसरों को
पानी पर कुछ शेर समुन्दर लिक्खेगा

चलो, उठो अब रोना-धोना बन्द करो
बुरा वक्त खुद अच्छे अवसर लिक्खेगा

उस दिन जीवन से जीवन मर जायेगा
भाग्य फूल का जिस दिन पत्थर लिक्खेगा

धरती खुद लिक्खेगी अपनी व्यथा-कथा
यह मत सोचो वह भी अम्बर लिक्खेगा।

अध्यक्ष, साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली

अनिरुद्ध सिन्हा की गजलें

एक

उजड़ते मौसमों को आस की ताज़ा हवा दी है
मुहब्बत से बहारों को किसी ने फिर सदा दी है

मैं रोया इस तरह आँखें हुई थीं नम वहाँ सबकी
मेरे रोने की आदत ने मुझे शोहरत दिला दी है

सब अपनी प्यास में गम हैं यही सब सोचकर मांने
दरख्तों के घने साये में रहने की दुआ दी है

किसी गुज़रे ज़माने की कहानी तो नहीं हूँ मैं
मेरी तस्वीर फिर दीवार पर किसने लगा दी है

तेरी नाज़ुक-सी उंगली का उसे नाखून चुभता है
मेरी चिट्ठी वो जो तुमने हथेली में दबा दी है।

दो

उलझनों से तो कभी प्यार से कट जाती है
ज़िन्दगी वक़्त की रफ़्तार से कट जाती है

मैं तो चीज़ हूँ परछाई भी मेरी अक्सर
रोज़ उठती हुई दीवार से कट जाती है

यूँ तो मुश्किल है बहुत इसको मिटाना साहब
दुश्मनी प्यार की तलवार से कट जाती है

सारी बेकार की खबरें ही छपा करती हैं
काम की बात तो अख़बार से कट जाती है

इतना आसान नहीं प्यारे, मुहब्बत करना
ये वो गुड़िया है जो बाजार से कट जाती है।

तीन

कोई नाज़ुक-सा इसमें दिल नहीं है
खिलौना इश्क़ के क़ाबिल नहीं है

सभी की है यहाँ सबसे अदावत
किसी का अब कोई क़ातिल नहीं है

ये वहमों और गुमानों के सफ़र में
मुसाफ़िर है मगर मंज़िल नहीं है

हमारा घर है पूजा घर के जैसा
सियासी लोग की महफ़िल नहीं है

वफ़ादारों में गिनती हो गई बस
वफ़ा से और कुछ हासिल नहीं है।

चार

जीत कर घर कभी जो आता हूँ
अपने बच्चों से हार जाता हूँ

एक धोखा है चंद हिस्सों में
तुम भी खाते हो मैं भी खाता हूँ

तुम बड़े आईना बने फिरते
तुमको अब आईना दिखाता हूँ

उन पे रहती बनज़र परिंदों की
मैं जो तिनके उठा के लाता हूँ

घुट न जाए ये दम धुएँ से ही
बंद कमरे में दिल जलाता हूँ

प्यार की जब पड़ी ज़रूरत तो
ब्याज पर घर से मांग लाता हूँ।

पाँच

लोग तो हैं मौसमी रफ़्तार पर
हम खड़े हैं बस नदी की धार पर

कोई दरवाज़ा वहाँ होगा ज़रूर
दस्तकें तो दीजिए दीवार पर

आपकी ही ज़िन्दगी की बात है
कुछ तो कहिए आप इन अशआर पर

वो हमारी ओर देखेगा कहाँ
आँख उसकी है टिकी मीनार पर

आप चाहे चाँदनी रख लीजिए
हम तो खुश हैं चाँद के दीदार पर।

✦✦✦

लज़ार पोखर, मुंगेर (बिहार) 811201, मोबाइल -7488542351

श्याम बता दो कब आओगे

कचराघर के द्वार खड़ी हैं
कुछ पाने की आस लगाए
अधनंगे बच्चों की टोली
और भूख से व्याकुल गायें
अपनी गउओं, और गोपालों
की सुध लेने कब आओगे .....
श्याम बता दो कब आओगे ..
श्याम बता दो कब आओगे ..॥

बड़े -बड़े बंगलों के नौकर
कचराघर में फैंक गये हैं
रात हुई दावत की झूठन
कचरे के डिब्बे में भर कर

चाट-चाट कर झूठी पत्तल
पत्तल डाल रहे गउओं को
गउएं चबा रही हैं पत्तल
मना रहे है दोनों दावत

पेट भर रहे दोनों मिलकर .....
हरे-भरे चारे की गठरी ...
माखन-मिश्री कब लाओगे॥

भूखा, नग्न, अशिक्षित बचपन
भटक रहा है मारा -मारा
बच्चों का हक़ क्या छोड़ेंगे
गउओं का जो खा गए चारा

भेज कत्लगाहों में गउएं
करते जो नित नव घोटाला
घोटालेबाजों से इनको ....
मुक्ति दिलाने कब आओगे॥
श्याम बता दो कब आओगे ..
श्याम बता दो कब आओगे ..॥

✦✦✦

अरे सम्हालो

वरुण देव के अमृत घट से बहता जीवन रस प्रतिपल
अरे सम्हालो धरती पुत्रो नष्ट ना हो धरती का जल॥

जल में धरती, धरती में जल है अद्भुत ताना-बाना
जल के बिन धरती पर अन्न का उग सकता ना इक दाना
पेड़ धरा की बाहें बन कर बुला रहे होते हैं घन
उमड़-घुमड़ घन सुख वर्षा से भरते धरती का आँगन
बहती सरस नेह की धारा एकाकार हुए जल-थल
अरे सम्हालो धरती पुत्रो नष्ट ना हो धरती का जल॥

जल जीवन का सार धरा पर, जल सबसे अनमोल रतन
जल बिन है जग सूना मरुथल, जल बिन है दुखमय जीवन
थलचर-नभचर-जलचर सबका जल ही है जीवन दाता
धरती पर जीवों का जल से पिता-पुत्र का है नाता
जो जल को दूषित करते हैं, करते मानवता से छल
अरे सम्हालो धरती पुत्रो नष्ट ना हो धरती का जल॥

चाँद-सितारों पर पानी को मानव आज रहा है खोज
पर धरती के अमृत -घट को दूषित करता है हर रोज
भौतिक सुख में लिप्त रसायन बहा रहा है नदियों में
मिनटों में विषमय करता जो अमृत बनता सदियों में
आज सुधारोगे ग़र खुद को तभी सुधर पायेगा कल
अरे सम्हालो धरती पुत्रो नष्ट ना हो धरती का जल॥

वरुण देव के अमृत घट से बहता जीवन रस प्रतिपल
अरे सम्हालो धरती पुत्रो नष्ट ना हो धरती का जल॥

✦✦✦

3724/1 कन्हैया नगर, त्रिनगर ,दिल्ली, 8700989095

आज की औरत

मील का पत्थर बनते-बनते
ख़ुद पत्थर हो गई
आज की औरत

मंज़िल से कोसों दूर
दबी है मर्द के अभिमान के नीचे
ऊपर होने का सुख
बँधा पौरुष के खंभों से
पत्थर की देवी को पूजते-पूजते
तुमने उसे भी बना दिया शिला
उसके जिस्म पर उकेर दी
अत्याचार की इबारत

वो
पत्थर की एक अहिल्या थी
आज हर राह, मोड़, गली, नुक्कड़, घर
घर की हर दीवार
दीवार की हर खिड़की
हर रौशनदान में
क़ैद हैं जाने कितनी अहिल्याएं

आज क्यों नहीं आते तुम खाने
शबरी के झूठे बेर?
हाँ, आज बेर नहीं
शबरियाँ हो रही हैं झूठी

ओ मर्यादाओं से बँधे राम
कितनी सीताओं को करवाओगे वनवास
कितनी द्रोपदियों का होगा चीर हरण
माँएँ ख़ामोश हैं
पिता के होंठों पर पसरी है
मरघट सी-ख़ामोशी
पैसों की गूँज है
घर की हर ईंट में
जहां दब गई है
पत्थर की बेबसी

मील का पत्थर होती है औरत
जिसके सहारे पुरुष नापता है
अपनी हैसियत।

✦✦✦

गिट्टियां कठपुतली नहीं रहीं

तुम्हें बहुत शौक़ था
गिटट्यों से खेलने का
दो मुट्ठी में और पाँच
दबी - सहमी नीचे पड़ी
अगली बारी फिर सब उछलेंगीं हवा में
फिर नई तरह से कुछ होंगी तुम्हारी मुट्ठी में
और कुछ पड़ी होंगी लहू लुहान
पल भर की चैन की साँसों के साथ
तुम्हारी घर की महिलाओं ने भी तब-तब ही
बहुत बिछाई तुम्हारी अय्याशी की खाटें
ख़ुद के परों की सलामती के लिए
वो नुचवाती रही नन्हें पंखों को

अब नहीं
अब तुम्हारी बेटियों ने
जीना और जीने का ढंग सीख लिया है
तुमने तो रोटियाँ सेंकनी ही सीखीं
वो रोटी सेंकने वाले हाथों को ही
कर देती हैं आग के हवाले
वो लकड़ियां ही नहीं जलातीं
वो उसके साथ सारा कचरा जला देती है
जिसकी ज़रूरत नहीं
गिट्टियाँ कठपुतली नहीं रहीं।

✦✦✦

ए-003, श्री बैजनाथ रेजिडेंसी, कुसुम विहार, रोड न. 5, मोराबादी, रांची।

ये मनुष्य

ये मनुष्य हैं
कुछ भी कर सकते हैं
असीमित भूमि को
सरहदों में बाँट सकते हैं।
अंतहीन नभ की परिधि को
सीमाओं में बाँट सकते हैं।
अनंत सागर के विस्तार को
चौहद्दियों में बाँट सकते हैं।
अपने - अपने क्षेत्र की हवा को भी
बंद कर सकते हैं प्रयोगशालाओं में
और आग, वह भी कहाँ बची है
मात्र हित साधन के लिए?
वह तो बम और परमाणु
के रूपों में परिवर्तित होकर
जीवन रक्षक नहीं,
जीवन विध्वंसक हो गयी है।
प्रकृति ने जीने की ज़रूरतों को
पर्याप्त दिया है सबके लिए
हमने ही उन्हें बाँट कर
अपनी आदमीयत का परिचय दिया है।
आख़िर बाँटते भी क्यों नहीं,
हम पढ़े - लिखे मनुष्य हैं,
हम कुछ भी कर सकते हैं।

✦✦✦

आदिवासी बेटियाँ

तीर - धनुष चलाती हैं
हॉकी भी खेलती हैं
और, दौड़ में भी आगे हैं
ये आदिवासी बेटियाँ।
महुआ, शाल, शीशम, पीपल
और न जाने कितने जंगल के पेड़
साक्षी रहे हैं उनकी मेहनत के जो
इन पेड़ों में अपने जीवन के
उपादान तलाशती हैं।
इन्हीं पेड़ों में उनके देवता हैं ।
इनकी टहनियों से तीर - धनुष बनाकर
करती हैं अभ्यास,
बिना किसी मदद की गुहार के
और ओलम्पिक में अपना स्थान बनाती हैं।
हॉकी भी खेलती हैं इन्हीं टहनियों से
स्टिक बना कर।
पदकों की कतार में भारत का नाम रोशन कर
जब वे लौटती हैं तो झूल पड़ती हैं
इन पेड़ों से
भर लेती हैं उनको बाँहों में।
आख़िर जंगल की बेटियाँ हैं,
ये आदिवासी लड़कियाँ।

✦✦✦

युद्ध में कविता

कविता पुरज़ोर विरोध करती हुई
चिल्ला रही है, युद्ध रोको, युद्ध रोको।
अनेक भाषाओं में शब्दों से प्रहार
करती हुई पूछती है, क्यूँ करते हो युद्ध?
शून्य से सृजन तक के
अंतहीन सफ़र और
बारूदी गंधों में दम तोड़ती सभ्यताओं
के करुण क्रंदन को तानाशाहों ने पढ़ा ही
नहीं है।
उन्होंने तो मोटी - मोटी पोथियाँ पढ़ी हैं
नीति, क़ानून, और प्रशासन की।
बस कविताएँ नहीं पढ़ीं
जिनमें अनाथ बच्चों का विलाप, ग़रीबी का
दंश और
मरती हुई संस्कृति की पीड़ा छिपी है।
इसलिए तो वे युद्ध करते हैं।
उन्हें अहसास ही नहीं
कविता कब और क्यूँ जन्म लेती है
और कब मर जाती है।

✦✦✦

डी. - 15, सेक्टर - 9 ,पी ओ - कोयलानगर, जिला - धनबाद, पिन - 826005, झारखण्ड,
ई मेल – kavitavikas28@gmail.com, मोबाइल - 9431320288

कुदरत का करिश्मा

भोर-बये आकाश पर सूरज उगता है
तो धरती को भी चमकाता है

शाम को जब ठंडी हवा के झोंके चलते हैं
तो दोपहर की झलती धूप को
जैसे पतझड़ से बाहार बनाते हैं

सूरज भी शाम ढलते अपनी करवट बदलता है
रात को गहरी सांसें लेता है
अगले दिन की तैयारी में जुट जाता है

शीत वायु चल पड़ती है अपनी डगर पे
न कोई उसको रोके
न कोई उसको टोके
जहाँ चाहती है वहां घूमती है
न कोई उसकी खबर ले

अम्बर पर जब बादल छा जाते हैं
आपस में टकराते रहते हैं

समीर भी रागिनी गाती है
बारिश आने लगती है

ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पे बर्फ गिरती है
बर्फ पे सुनहरी धूप पड़ती है

बर्फ भी पिघल कर बिखर जाती है
अद्भुत सा नज़ारा होता है
स्वर्ग का जैसे इशारा होता है

गगन पे तारे निकलते हैं
सात-ऋषि भी नज़र आते हैं
अनगिनत तारे लगते हैं बहुत प्यारे
कोई ऊपर है, कोई नीचे
कोई आगे है, कोई पीछे

रात को चाँद निकलता है
कभी आधा तो कभी पूरा होता है
ये दृश्य भी बहुत निराला है
कभी पूर्णिमा तो कभी अमावस्या आती है

उन्मुक्त गगन के पक्षी

पक्षी बेज़ुबान नहीं होते
वो भी अपनी बोली बोलते हैं

इधर-उधर नज़र घुमाते हैं
अन्न का दाना देख कर
घरों की छत पर आ जाते हैं

पक्षी चह-चहा रहें हैं
वो भी कोई गाना गा रहे हैं

अपने लिए घर तो बना लेते हैं
फिर भी खाने के लिए भटकते रहते हैं

उड़ते हैं पक्षी उन्मुक्त गगन में आज़ादी से
नहीं डरते हैं वो किसी की गुलामी से

दूर-दूर तक उड़ते चले जाते हैं
पता नहीं कहाँ-कहाँ से घूम के आ जाते हैं

कुदरत ने बक्शा है उनको ऐसी आज़ादी से
दूर हैं वो गम और परेशानी की परछाई से

टहलने का उनका कोई वक़्त नहीं
सुबह हो या शाम हो कोई पहर नहीं

पक्षी अपने पर फैलाएं
मन चाहे जहाँ जाएं
न कोई बंदिश है- न कोई रुकावट है
न मन मैला है- न कोई मिलावट है

दिन-भर मिल कर वो काम करते
रात में अपने घौंसले में सो जाते

भोर-बयेही वो जल्दी से उठ जाते
सबको अपनी बोली से जगाते

चिड़िया हो या तीतर हो
कौआ हो या कबूतर हो

ढूँढ़ते रहते हैं वो अपने लिए दाना
चुग-चुग के खाते हैं वो खाना

चील भी कितनी शील है
कोई क्यों समझता उसे कील है

जहाँ उसे जो मिल जाए
उसे वो अपना खीर-क्षीर बनाए

तोता मैना की तो कहानी
सबने सुनी है ज़ुबानी

वो भी अपना तीर चला के
रैन बसेरे में करते हैं गुप-चुप बातें

कोयल कितनी प्यारी है
मीठी बोली वाली सायली है

उसकी मधुर भाषा से
ऐसा है दर्शाता
अपने मन के वो राज़ खोले
सब उसी की तरह मीठी वाणी बोलें।

फ्लैट नंबर 33, पॉकेट-2, सैक्टर-19, द्वारका, पिन - 110075, दिल्ली, ई मेल – urnaoct@gmail.com,
मोबाइल - 910147569

आईसीसीआर के जेन-नेक्सट डेमोक्रेसी नेटवर्क प्रोग्राम के पांचवे बैच दिनांक 05-14 सितम्बर के अन्तर्गत 6 देशों (ऑस्ट्रेलिया, ऑस्ट्रिया, कोस्टा रिका, ग्रीस, साउथ कोरिया एवं रोमानिया) के प्रतिनिधियों द्वारा प्रधानमंत्री संग्रहालय, नई दिल्ली की यात्रा।

आईसीसीआर के जेन-नेक्सट डेमोक्रेसी नेटवर्क प्रोग्राम के चतुर्थ बैच दिनांक 08-17 अगस्त के अन्तर्गत 05 देशों (पराग्वे, युगांडा, थाईलैंड, मॉरीशस एवं चैक रिपब्लिक) के प्रतिनिधियों के सम्मान में महानिदेशक, आईसीसीआर द्वारा सांस्कृतिक संध्या का आयोजन एवं भव्य स्वागत।

वीसीसी, टोक्यो द्वारा आयोजित नानजान विश्वविद्यालय, नागोया के छात्रों के लिए भारतीय परिचय यात्रा।

14-29 सितंबर 2022 तक आयोजित हिंदी पखवाड़े के समापन समारोह के अवसर पर मुख्यालय के कार्मिकों द्वारा काव्य पाठ की प्रस्तुति।

श्री कुमार तुहिन, महानिदेशक, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद 14-29 सितंबर 2022 तक हिंदी पखवाड़े के दौरान आयोजित विभिन्न प्रतियोगिताओं (हिंदी निबंध, सामान्य हिंदी, टिप्पण एवं पत्र लेखन तथा श्रुतलेखन) में प्रथम स्थान प्राप्त करने वाले प्रतिभागियों (क्रमश: श्रीमती सुनीता रावत, श्री वीरपाल राणा तथा श्री विक्रम सौंधी) को प्रमाण पत्र प्रदान करते हुए।

हिंदी पखवाड़े के दौरान दिनांक 20 सितंबर 2022 को आयोजित हिंदी निबंध प्रतियोगिता में मुख्यालय के अधिकारी एवं कर्मचारी प्रतिभाग करते हुए ।

हिंदी पखवाड़े के दौरान दिनांक 22 सितंबर 2022 को आयोजित सामान्यर हिंदी, टिप्पण एवं पत्र लेखन प्रतियोगिता में मुख्यालय के अधिकारी एवं कर्मचारी प्रतिभाग करते हुए।

हिंदी पखवाड़े के दौरान दिनांक 23 सितंबर 2022 को आयोजित श्रुतलेखन प्रतियोगिता में मुख्यालय के बहुकार्यकार्मिक प्रतिभाग करते हुए

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

सदस्यता शुल्क फार्म

प्रिय महोदय,

कृपया गगनांचल पत्रिका की एक साल/तीन साल की सदस्यता प्रदान करें।

बिल भेजने का पता

.....

.....

.....

.....

पत्रिका भिजवाने का पता

.....

.....

.....

.....

विवरण	शुल्क			प्रतियों की सं.	रुपये/US$
गगनांचल वर्ष	एक वर्ष	₹	500 (भारत)		
		US$	100 (विदेश)		
	तीन वर्षीय	₹	1200 (भारत)		
		US$	250 (विदेश)		
कुल	छूट, पुस्तकालय		10%		
	पुस्तक विक्रेता		25%		

मैं इसके साथ बैंक ड्राफ्ट सं. ..... दिनांक .....

रु./US$ ..... बैंक .....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली के नाम भिजवा रहा/रही हूँ।

कृपया इस फॉर्म को बैंक ड्राफ्ट के साथ
निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ :
कार्यक्रम निदेशक (हिंदी)
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-110002, भारत
फोन नं. 011-23379309, 23379310

हस्ताक्षर और स्टैंप .....

नाम .....

पद .....

दिनांक .....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

प्रकाशन एवं मल्टीमीडिया कृति

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद द्वारा गत 44 वर्षों से हिंदी पत्रिका गगनांचल का प्रकाशन किया जा रहा है, जिसका मुख्य उद्देश्य देश के साथ-साथ विदेशों में भी भारतीय साहित्य, कला, दर्शन तथा हिंदी का प्रचार-प्रसार करना है तथा इसका वितरण देश-विदेश में व्यापक स्तर पर किया जाता है।

इसके अतिरिक्त परिषद ने कला, दर्शन, कूटनीति, भाषा एवं साहित्य, विभिन्न विषयों पर पुस्तकों का प्रकाशन किया है। सुप्रसिद्ध भारतीय राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों जैसे महात्मा गाँधी, मौलाना आजाद, नेहरू व टैगोर की रचनाएँ परिषद की प्रकाशन योजना में गौरवशाली स्थान रखती हैं। प्रकाशन-योजना विशेष रूप से उन पुस्तकों पर केंद्रित है, जो भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा पौराणिक कथाओं, संगीत, नृत्य और नाट्यकला से संबद्ध हैं।

परिषद द्वारा भारत में आयोजित अंतरराष्ट्रीय महोत्सवों के अंतर्गत सांस्कृतिक कार्यक्रमों तथा विदेशी सांस्कृतिक दलों द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रमों की वीडियो रिकॉर्डिंग तैयार की जाती है। इसके अतिरिक्त परिषद ने ध्वन्यांकित संगीत के 100 वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर दूरदर्शन के साथ मिलकर ऑडियो कैसेट एवं डिस्क की एक शृंखला का संयुक्त रूप से निर्माण किया है।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की स्थापना, सन् 1950 में स्वतंत्र भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद द्वारा की गई थी। तब से अब तक, हम भारत में लोकतंत्र की दृढ़ीकरण, न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना, अर्थव्यवस्था का तीव्र विकास, महिलाओं का सशक्तीकरण, विश्व-स्तरीय शैक्षणिक संस्थाओं का सृजन और वैज्ञानिक परम्पराओं का पुनरुज्जीवन देख चुके हैं। भारत की पांच सहस्त्राब्दि पुरानी संस्कृति का नवजागरण, पुनः स्थापना एवं नवीनीकरण हो रहा है, जिसका आभास हमें भारतीय भाषाओं की सक्रिय प्रोन्नति, प्रगति एवं प्रयोग में और सिनेमा के व्यापक प्रभाव में मिलता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, विकास के इन आयामों से समन्वय रखते हुए, समकालीन भारत के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही है।

पिछले पांच दशक, भारत के लम्बे इतिहास में, कला के दृष्टिकोण से सर्वाधिक उत्साहवर्द्धक रहे हैं। भारतीय साहित्य, संगीत व नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला व शिल्प और नाट्यकला तथा फिल्म, प्रत्येक में अभूतपूर्व सृजन हो रहा है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, परंपरागत के साथ-साथ समकालीन प्रयोगों को भी लगातार बढ़ावा दे रही है। साथ ही, भारत की सांस्कृतिक पहचान-शास्त्रीय व लोक कलाओं को विशेष सम्मान दिया जाता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद सहभागिता व भाईचारे की संस्कृति की संवाहक है, व अन्य राष्ट्रों के साथ सृजनात्मक संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करने के लिए परिषद ने अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारतीय संस्कृति की समृद्धि एवं विविधता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

भारत और सहयोगी राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक व बौद्धिक आदान-प्रदान का अग्रणी प्रायोजक होना, परिषद के लिए गौरव का विषय है। परिषद का यह संकल्प है कि आने वाले वर्षों में भारत के गौरवशाली सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक आंदोलन को बढ़ावा दिया जाए।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

अध्यक्ष	:	23378616, 23370698
महानिदेशक	:	23378103, 23370471
उप-महानिदेशक (प्रशासन)	:	23370784, 23379315
उप-महानिदेशक (संस्कृति)	:	23379249, 23370794
हिंदी अनुभाग	:	23370237, 23379309-10 एक्स. 2256/2272

गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल
गगनांचल

पंजीयन संख्या, आर.एन/32381/78
ISSN-0971-1430

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के प्रकाशन

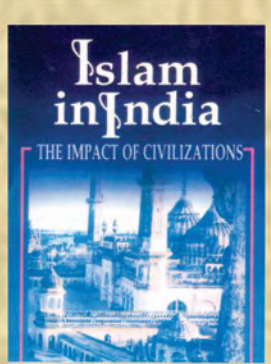

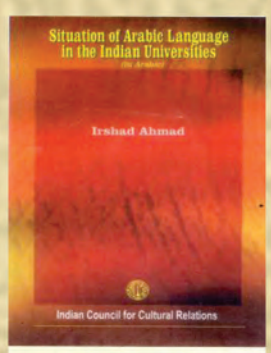

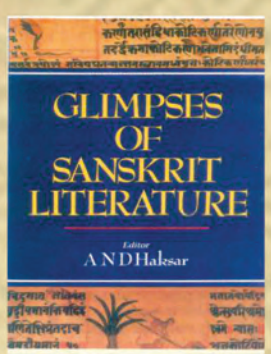

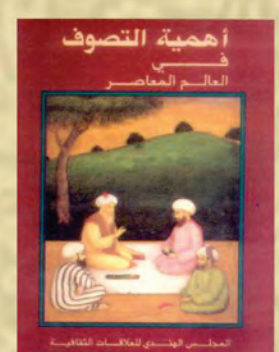

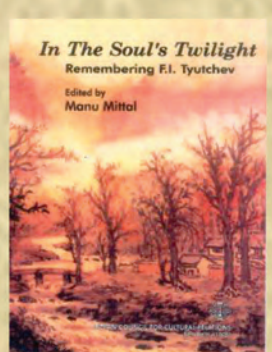

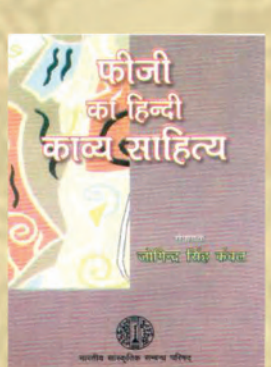

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
फोन : 91-11-23379309, 23379310
ई-मेल : pohindi.iccr@nic.in
वेबसाइट : www.iccr.gov.in